ह-तिसर्स की भारत-यात्रा

'तरुण-भारत-ग्रन्थावली-संख्या १०

मराठों का उत्कर्ष।

(न्यायमूर्ति रानाडे के ' राइज आफ मराठा पावर" नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ का अनुवाद।)

अनुवादक
भास्कर रामचन्द्र भालेराव।

प्रकाशक
तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय
दारागंज, प्रयाग।

सं० १९८१ वि०

मूल्य १॥)

मराठों के इतिहास पर हिन्दी में यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी होगी। इसमें रानाडे महाशय ने मराठों की सत्ता का सच्चा सच्चा स्वरूप प्रकट किया है। इस लिए, अँगरेज इतिहासलेखकों के भ्रमात्मक विचारों से जिन हिन्दी पाठकों के विचार भी, मराठों के विषय में, भ्रमात्मक बन गये होंगे, उनके भ्रम का अवश्य ही निरसन हो जायगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में मराठों का पूरा पूरा इतिहास तो नहीं आया है—क्योंकि रानाडे महाशय आगे इस काम को पूरा करनेवाले थे, परन्तु बीच ही में उनका स्वर्गवास हो गया—फिर भी मराठों के उत्थान का पूर्ण वृत्तान्त इसमें आ गया है, और प्रसंगवशात् कहीं कहीं उनके पतन का भी आभास दिया गया है।

परिशिष्टों में से पहला परिशिष्ट न्यायमूर्ति तैलंग का लिखा हुआ है, जिसे स्वयं रानाडे जी ने अपने ग्रन्थ में रखा था, और दूसरा परिशिष्ट स्वयं रानाडे महाशय का ही लिखा हुआ है, यह परिशिष्ट कदाचित् रानाडेजी अपने इतिहास के अगले भाग में देते। परन्तु हमने इसको मराठी ग्रन्थ पर से लिया है। इन दोनों परिशिष्टों में पेशवाओं के समय की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। इनकी सामग्री बहुत ही मनोरंजक, उपदेशप्रद और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। आशा है कि हमारे इतिहासप्रेमी पाठक इस ग्रन्थ से पूरा पूरा लाभ उठावेंगे।

प्रयाग,
महाशिवरात्रि,
[illegible]

लक्ष्मीधर वाजपेयी
(सम्पादक)

अनुक्रमणिका

के इतिहास को, तत्व की दृष्टि से, तुच्छ मानते हैं। उनका कहना है कि मराठों का शासन तो केवल लुटेरों की हलचल मात्र थी और यदि उनके उत्थान और पतन के इतिहास का वर्णन किया जाय तो उसमें प्रशंसा की कोई बात नहीं है। तथा उस इतिहास में ऐसे कोई भी तत्व नहीं हैं, जिनका हम मनन कर सकें। केवल लुटेरेपन और साहस-क्षमा के बल पर ही कुछ समय के लिये प्रसिद्धि और उन्नति पाये हुए लोगों के इतिहास से किस बात की ऐतिहासिक शिक्षा हमें मिल सकती है? औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर उस विशाल मुगल-साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके टुकड़े टुकड़े कर डालने वालों में से केवल वे ही अत्यंत धूर्त और चालाक थे, और इसीसे उनकी दाल गली, अतः क्या उनके उक्त गुणों पर ही मोहित होकर हम उनके इतिहास को आदरणीय मानें और उसका अध्ययन करें? हमें तो उनके इतिहास में कोई विशेषता नहीं देख पड़ती। इस प्रकार के विचार प्रगट करने वाले लोग भी बहुतायत से हैं। पर, जिन्हें अंग्रेज इतिहास-लेखकों के ग्रंथों से ही उक्त सारी बातें मालूम हुई हैं, तथा जिन्होंने अन्य इतिहास-ग्रंथों को बिलकुल ही नहीं देखा है, उन लोगों के द्वारा ही उक्त प्रकार के उद्गार सुन पड़ते हैं। मिस्टर ग्राँटडफ साहब ने भी कई हस्त-लिखित इतिहास पढ़े थे, उन्होंने प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री की भी खोज की थी, तथा मराठों के विषय में उनके मन में बड़ा आदर-भाव था, तिस पर भी उन्होंने उपर्युक्त कथन की ही पूर्ति की है! उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि—"यद्यपि महाराष्ट्र के हिन्दुओं का लुटेरों का सा चंचल स्वभाव कुछ समय के लिये स्थगित सा हो गया

था, तथापि उस बुझी हुई आग ने, मुसलमान विजयी वीरों के आपसी झगड़ों के कारण, फिर से प्रचंड स्वरूप धारण किया, जिसका यह परिणाम हुआ कि, सह्याद्रि पर्वत के अरण्य की सूखी घास के एकदम जल उठने की तरह मराठे एकाएक उभड़ उठे और यह आग फैलती ही गई। जिससे बहुत दूरी पर रहने वाले लोग भी उस प्रचंड और भीषण आग को देख कर आश्चर्य चकित हो उठे।" उक्त इतिहास-लेखक का यह कथन यदि सत्य हो, तो फिर यही कहना योग्य होगा कि मराठों के इतिहास में कोई विशेषता नहीं है। सचमुच ही यदि यह सिद्ध हो जावे कि, वास्तव में उसमें चिरस्थायी और उपयोगी नैतिक सिद्धांतों का अंश नहीं है, तो फिर कोई उसके विरुद्ध, कुछ भी नहीं कह सकता। पर, हम इस इतिहास में जिन विषयों का वर्णन करेंगे, उनसे, आशा है कि, भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास का अध्ययन करने वालों को अवश्य ही कुछ न कुछ विशिष्ट बातें मालूम होंगी। इस इतिहास में वर्णन की हुई बातों को पढ़कर इतिहास-शास्त्र का अध्ययन करने वाले कह सकेंगे कि, ग्रांटडफ प्रभृति इतिहास-लेखकों का कथन निरा ढकोसला है। हमें विश्वास है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने से ऐतिहासिक विद्यार्थियों को यह भी भली भांति मालूम हो जायगा कि उक्त इतिहास-लेखकों के विधानों पर अपना अभिप्राय स्थिर करना, बिलकुल भ्रमपूर्ण होगा; और सच है कि उस प्रकार का अभिप्राय स्थिर हो जाने से अगला सारा कथानक निस्सार जान पड़ेगा; और उसके सब भागों का पारस्परिक सम्बन्ध समझ में न आवेगा। महाराष्ट्र-मण्डलरूपी विस्तीर्ण भवन बनाने के लिए जिन वीरों ने अपने

प्राण त्यागे हैं, उनकी मैसूर के हैदर-टीपू, हैदराबाद के निज़ाम, अयोध्या के शुजाउद्दौला, बंगाल के अलीवर्दीखां, पंजाब के रणजीतसिंह और भरतपुर के सूरजमल जाट से तुलना करने वालों को इस इतिहास का रहस्य कदापि ज्ञात नहीं हो सकता और सभी मराठे वीरों को एक ही श्रेणी के माननेवाले और उनके पारस्परिक भेद को न जाननेवाले पाठक ऐतिहासिक दृष्टि का महत्व कदापि नहीं जान सकते, जिससे उनके सभी विचार निरे भ्रमपूर्ण ही होंगे। यदि कोई भारत में अंग्रेजों के राज्य की जड़ जमने के लिये केवल लार्ड क्लाइव के साहस-पूर्ण स्वभाव तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ की राजनैतिक कार्यवाहियों को ही मुख्य कारण मान ले तो उसे ब्रिटिश राज्य का महत्व नहीं मालूम हो सकता। और, जिस प्रकार उस देश का कोई विद्यार्थी क्लाइव तथा वारेन हेस्टिंग्स के साहसपूर्ण कृत्यों तथा राजनैतिक कार्यवाइयों को ही महत्वपूर्ण मानकर, उन्हें दी हुई ब्रिटिश राज्य की सहायता की ओर ध्यान न दे, तो उसे उनके इतिहास का रहस्य मालूम नहीं, हो सकता, ठीक, उसी प्रकार मराठा-मंडल को स्थापित करने वाले पुरुषों के चरित्रों को अच्छी तरह मनन न करने वालों को भी मराठों के इतिहास का रहस्य मालूम नहीं हो सकता। यदि अंग्रेजों का विस्तृत और बलशाली राज्य, उनकी अपार संपत्ति, दृढ निश्चय, दीर्घ प्रयत्न, आदि न होते तो क्या उनका राज्य भारत में स्थापित हो सकता था? इसी प्रकार केवल साहसपूर्ण कार्य करने वाले, राजकार्य-कुशल और वीरों के द्वारा भी महाराष्ट्र-मंडल जैसे राज्य की स्थापना का कार्य बिलकुल असंभव सा था। केवल लुटेरे लोगों के द्वारा, अनेक पीढ़ियों तक टिकने

वाले साम्राज्य की स्थापना कदापि नहीं हो सकती; और न वे एक बड़े राष्ट्र के राजकीय मानचित्र में यथेच्छ परिवर्तन करने, तथा उसका स्थायी प्रभाव स्थापित करने के समान कठिन कार्य को ही कर सकते हैं। ऐसे ऐसे कार्यों के लिये तो किसी और ही बात की आवश्यकता हुआ करती है। औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर स्वतन्त्र बन बैठने वाले विभिन्न प्रांतों के बड़े बड़े सूबेदारों को तो किसी प्रकार की असुविधा से सामना नहीं करना पड़ा था, पर मराठों का राज्य स्थापित करने वालों और उनके अनन्तर की दो पीढ़ियों के पुरुषों को तो मुगल बादशाहत के उत्कर्षमय काल की प्रबल शक्ति से सामना करके उसके प्रबल आघात सहने पड़े थे। औरंगजेब के अनन्तर उत्कर्ष पाये हुए बड़े बड़े सूबेदारों को, अपने अपने राज्य स्थापित करने के लिये, मुगल-सेना से सामना नहीं करना पड़ा था। वरन् मुगल बादशाहत के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर ही वे सैनिक पेशा करने वाले साहसी सूबेदार, स्वतन्त्र हो सके थे। उन्हें किसी भी राष्ट्रीय बल से सहायता नहीं मिली थी, जिससे उनके राज्य, स्थापित करने वाले पुरुषों के साथ ही, लुप्त हो गये। पर यदि महाराष्ट्र-मंडल के विषय में विचार किया जाय, तो हम कह सकते हैं कि उनकी परिस्थिति तो कुछ और ही थी। उनकी दस पीढ़ियों तक बराबर बड़े बड़े नेता उत्पन्न होते रहे, और उनमें से किसी के रणभूमि पर गिरने पर उसके स्थान पर दूसरा खड़ा हो जाता था। इस प्रकार वे शत्रुओं के पराक्रम और कर्मवीरता की परवाह न करके महाराष्ट्र-मंडल को स्थिर रख सके, और ज्यों ज्यों उन पर अधिक संकट आते गये, त्यों त्यों दिनों दिन उनका उत्कर्ष

होता गया। पश्चिमीय पुराणों में फेनिक्स नामक एक पक्षी की कथा का वर्णन है। लोगों को उसके जल जाने का विश्वास हो जाने पर भी पुनः पहले से भी अधिक तेजस्वी स्वरूप धारण करने की कथा लिखी है। मराठा-मंडल की भी यही दशा थी। अथवा, उनकी दशा को देख कर अहिरावण-महिरावण की कथा की सत्यता प्रतीत होती है। एक बार यदि मराठे वीर पराभूत भी हो जाते थे, तो दूसरी बार वे ही पुनः सहसा हाथियों की नाईं बलवान् देख पड़ते थे। इस प्रकार उनकी ध्येय-साधन की लगन के कारण महाराष्ट्र मंडल में विशेष जीवन-तत्वों के चिन्ह स्पष्टतया दिखाई दिये। उनकी उक्त स्थिति और उन भित्ति रूपी तत्वों को जाने बिना उनके उत्कर्ष का कारण मालूम होना बिलकुल असंभव है। केवल साहस और लुटेरेपन के सिद्धान्त ही उस परिस्थिति की पुष्टि नहीं कर सकते अथवा आकस्मिक आग जल उठने की उपमा से भी महाराष्ट्र मंडल के पराक्रम को अतलाना ठीक किसी टूटे खंभे के बल पर घर बनाने की तरह होगा। इसलिये हम पहले परिच्छेद में यही बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि महाराष्ट्र-मंडल का विशेष स्वरूप किस प्रकार का था, और उसमें, इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिये, विशेष नैतिक महत्व की बातें कितनी हैं। हमें आशा है कि इससे उन्हें महाराष्ट्र-मंडल की विशेषता और उसका स्थायी महत्व भी मालूम हो जावेगा।

१—पहले तो इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित होने के पूर्व इस देश का राज्यशासन मुसलमानों के हाथ में नहीं था। यद्यपि बारम्बार

यह कहा जाता है कि अंग्रेजों ने मुसलमानों से ही भारत का राज्य लिया है, तथापि सच बात तो यह है, कि उन्हें भारत का साम्राज्य, मुसलमानों से बड़ी वीरता से लड़ कर स्वतंत्र हो जाने वाले, इसी देश के निवासी राज्यशासकों के हाथ से प्राप्त हुआ है। अंग्रेजों के इस देश में आने के पहिले ही कई मुसलमानों और मराठों के राज्य स्थापित हो चुके थे; और अंत में मुसलमानों का राज्य नष्ट हो जाने पर चारों ओर मराठों का ही राज्य स्थापित हो गया था। अनंतर मराठों का राज्य अंग्रेजों के अधिकार में चला गया। ग्रांटडफ साहब मराठों के इतिहास के उक्त स्वरूप को जान चुके थे; और उन्होंने मराठों के उस स्वत्व को स्पष्ट रूप से बतला दिया है। मराठों के विषय में उन्होंने लिखा है कि, "अंग्रेजों के हिन्दुस्थान को जीत लेने के पहले ही मराठों ने उसे ले लिया था। शिवाजी भोंसले नामक प्रसिद्ध वीर के, उन लोगों के नेता बनने के पहले ही से धीरे धीरे उनका प्रभाव बढ़ रहा था; और उनका सामर्थ्य भी बढ़ता जाता था।" केवल बंगाल और कारोमंडल के तट पर के जिन राज्यों को अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया था, वे ही महाराष्ट्र मंडल के अंतर्गत नहीं थे। वहां पर मुसलमान सरदारों का भी अधिकार नहीं था, वरन् अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनेवाले हिन्दू शासक ही वहां राज्य करते थे। उन स्वदेशीय राज्यों में महाराष्ट्र मंडल ही प्रथम श्रेणी का था। मराठों के राज्य का उत्थान तो पश्चिमीय महाराष्ट्र में हुआ था; पर शीघ्र ही उनका कार्यक्षेत्र मध्य दक्षिणापथ कर्नाटक, मैसोर तथा ठेठ तंजाउर तक का दक्षिणीय भारत बन गया था। उत्तर में काठियावाड़, गुजरात, बरार और

कटक की सीमा तक का मध्यप्रदेश, तथा मध्यभारत का मालवा प्रान्त और बुंदेलखंड, राजपूताना, दिल्ली, आगरा, दुआब और रुहेलखंड, इत्यादि प्रान्त मराठों के ही अधिकार में थे। बंगाल और अयोध्या प्रान्तों पर भी मराठों ने चढ़ाइयां की थीं, और उन प्रान्तों में मराठों का भगवां झंडा फहराने को ही था, पर ब्रिटिश सेना की रुकावट के कारण उन प्रांतों पर उनका प्रभाव स्थापित नहीं हो सका। दिल्ली के तख्त पर इच्छित व्यक्ति को अभिषिक्त करने या उतारने का बल, लगातार पचास वर्षों तक, केवल मराठों ही में था। उपर्युक्त सारा प्रदेश महाराष्ट्र मंडल के ही अधीन था, और उनका कोई न कोई सरदार, प्रतिनिधि के रूप में, वहां का राजकाज देखता था। उन समय कई प्राचीन और प्रसिद्ध राज्य भी थे, पर वे सभी, सुलह करके, महाराष्ट्र मंडल के ही अधीन हो गये थे। मुसलमानों के राज्य हैदराबाद और मैसूर भी वास्तव में महाराष्ट्र मंडल के आज्ञानुसार ही राजकार्य करते थे। अतः जिस मंडल का इतना भारी प्रभाव था, तथा जिसने विस्तीर्ण प्रदेश को जीत कर एक शताब्दी तक अपनी छत्रछाया में रखा था, उसी महाराष्ट्र-मंडल की एकता का रहस्य भारत के ब्रिटिश राज्य-शासकों के लिये बड़ा विचारणीय विषय है। महाराष्ट्र-मंडल के मुख्य नेता तो वास्तव में पेशवा ही थे। वे केवल अपने ही देश के सैनिक नेता नहीं थे, वरन् मुग़लों के राज्य-सिंहासन पर कैदियों की नाईं राज्य करनेवाले बादशाहों के भी सर्वस्व थे। इसलिये यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि बंगाल और मद्रास के तट के अतिरिक्त समग्र भारत का शासन महाराष्ट्र-मंडल के अधिकार में रहने

वाले हिन्दू शासकों के ही हाथ में था। उस समय मुसलमानों का प्रभाव नष्ट हो चुका था और हिन्दुओं का प्रभाव स्थापित होकर वे स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे, अतः ब्रिटिश-शक्ति को उन्हीं के साथ लड़ कर अपना प्रभाव स्थापित करना पड़ा था।

२–महाराष्ट्र-मंडल की एकता का रहस्य जानने के लिए इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि, केवल एक ही मनुष्य अथवा उसके बुद्धिमान उत्तराधिकारियों के ही द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता था, वरन् सब राष्ट्र-निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता के बीज बोये जाते हैं, तथा स्वत्व की दृढ़ और गहरी भित्ति बनाई जाती है, तभी वैसे कार्य किये जा सकते हैं। बंगाल, कर्नाटक, अवध और हैदराबाद के सूबेदारों के स्वत्वों की भित्तियां भी उतनी दृढ़ नहीं थीं। महाराष्ट्र-साम्राज्य के उत्थान के लिये तो राष्ट्रीकरण या राष्ट्र-संगठन ही मुख्य कारण हुआ है। यह कार्य किसी साहसी पुरुष के विजयी कार्यों से नहीं हो सकता था। अर्थात् जब सारे देश-निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीय भावों का प्रादुर्भाव हुआ तथा वे अपनी जाति, धर्म, श्रद्धा और साहित्य-प्रेम के दृढ़ बंधनों से सुबद्ध हो गये, तभी महाराष्ट्र-साम्राज्य के उत्थान के बीज बोये गये। इस प्रकार जब उनका उच्च प्रेम-बंधन दृढ़ हो गया, और अपनी एकता को और भी अधिक दृढ़ बनाने की उन्हें इच्छा हुई तब अपने राष्ट्र के लिये स्वतंत्र राजनैतिक जीवन के बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे पहले तो उन लोगों में अपने स्वत्वों के विषय में जागृति हो गई, और फिर एक जाति, एक भाषा, अपने अधरत्नों के प्रति आदर

और उनका अध्ययन करने की लालसारूपी एकता-प्रवर्तक जिज्ञासा उनमें उत्पन्न हो उठी। इस प्रकार उनके हृदय में उक्त भाव उत्पन्न हो जाने पर उन्हें अपनी एकता को अधिक परिपूर्ण करने के लिये अपना स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा और आवश्यकता मालूम होने लगी, तथा उस इच्छा की पूर्ति के लिए उनमें स्वाभिमान और आवेश भी उत्पन्न हो गया। भारत में मुसलमानों के आक्रमण के नाशकारक समय के अनन्तर स्वराज्य स्थापित करने का सब से पहला कार्य महाराष्ट्र ही में हुआ, और चूंकि वही सबसे पहला प्रयत्न था, इस कारण उस साम्राज्य-रूपी भवन की भित्ति अधिक दृढ़ नहीं हो सकी। बड़े बड़े यूरोपीय राष्ट्रों में तो भित्ति की सुदृढ़ता ही विशेष प्रकार का गुण समझा जाता है। पर उसका अभाव होने पर भी महाराष्ट्र-मंडल की एकता के सत्य स्वरूप के विषय में आशंकित होना योग्य नहीं है। जगत् में ऐसे भी कई राष्ट्र हो गये हैं, जिनका उत्थान भी अचानक हो गया, और शीघ्र पतन भी, पर उनकी अपेक्षा महाराष्ट्र-मंडल में बहुत कुछ विशेषताएँ थीं। अतः हमारे कथनानुसार उसके विशिष्ट स्वरूप के विषय में आशंकित होना निरी भ्रमपूर्ण ही बात होगी। महाराष्ट्र सत्ता तो एक राष्ट्रीय हलचल थी। वह सभी वर्णों तथा सभी जातियों, अर्थात् सारे राष्ट्र का किया हुआ एक देशोद्धारक कार्य था। उसके राज्य-प्रबन्ध की दृढ़ता उच्च श्रेणी के लोगों की अल्प सामयिक उन्नति पर ही अवलंबित नहीं थी, वरन् उसका प्रभाव तो बिलकुल जंगली लोगों के विस्तीर्ण समाज पर भी, विशेष प्रकार से, स्थापित हो गया था। अहीर, गड़-

रिये, ब्राह्मण, अब्राह्मण तथा मुसलमानों को भी उसके प्रभाव या महत्व मालूम हो गया था, और वे सभी उसके अधीन हो गये थे। कई अंग्रेज लेखकों का कथन है कि भारतीयों में राष्ट्रीय भावनाओं का बिलकुल अभाव होता है, पर वे खुले दिल से मराठे, राजपूत तथा सिक्खों में उस अभाव को नहीं बतलाते। अर्थात् उन्होंने उक्त तीनों जातियों को राष्ट्रीय-बुद्धि-गुण-सम्पन्न मान लिया है। राजपूतों के कई कुलों का बड़ा महत्व है और सिक्खों की खालसा सेना भी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वास्तव में देखा जावे तो उक्त खालसा सेना में पंजाब की बहुत ही कम मनुष्य-संख्या सम्मिलित की गई है। पर मराठों की दशा तो उक्त दोनों जातियों की अपेक्षा बिलकुल ही भिन्न थी। यद्यपि उनमें भी वर्ण या जाति की श्रेष्ठता के भाव थे, पर सर्वसाधारण जनों का एक सी ही राष्ट्रीय भावनाएँ होने के कारण उक्त विषय को अधिक महत्व नहीं दिया गया। मराठे लोग छः मास तक तो राष्ट्रीय सेना में सैनिक कार्य करते थे, और फिर अपने घर को वापिस लौट कर वंशपरंपरागत खेती का उद्यम करके शेष समय आनन्द से बिताते थे। मराठों को अपनी पुश्तैनी जायदाद के विषय में बड़ा अभिमान था, और यदि देखा जावे तो मराठों के स्वभाव की उस विशेषता को ही अधिक ध्यान में रखना उचित है। कई लोग बड़ी बड़ी सेनाओं के अध्यक्ष भी हुआ करते थे, पर तो भी उन्हें महाराष्ट्र की किसी 'पटेली' या 'देशमुखी' का जितना अभिमान था, उतना दूर देशों में, अपने बाहुबल पर प्राप्त की हुई, बड़ी बड़ी जागीरों के विषय में भी नहीं था। जैसे महादजी सेंधिया अपने को 'पटेल' कहलाने

से अधिक सम्मानित समझते थे, पर 'आलीजाह बहादुर' कहलाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वास्तव में इस प्रकार की स्वदेशाभिमान-युक्त बुद्धि ही राष्ट्र-रचना के विशिष्ट-परिणाम को जतलाने के लिये अत्यन्त उपयोगी होती है। अपने राष्ट्र के विषय में अभिमान उत्पन्न होने ही के कारण, मराठों के राज्य का इतना विस्तार हुआ, और उनका प्रभाव स्थापित हो गया। अतः यदि कोई यह प्रश्न पूछे, कि हमें मराठों के इतिहास का अध्ययन विशेष प्रकार से क्यों करना चाहिये, तो हमारे लिये इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उक्त सिद्धान्त ही अधिक उपयोगी होगा। वास्तव में देखा जावे तो मराठों का इतिहास ही एक सच्चे भारतीय राष्ट्र की रचना का इतिहास है। इस राष्ट्र ने, मुसलमानों के अत्याचारों से शोचनीय-परिस्थिति प्राप्त हो जाने पर भी, अपना सिर ऊंचा उठाया। इसके बाद महाराष्ट्र-मंडल के नेताओं को अन्य सभी शक्तियों को एकत्रित करके अपने अधिकार में कर लेने तथा दिल्ली को भारतीय साम्राज्य की राजधानी बनाने की इच्छा हुई। हैदर, टीपू अथवा हैदराबाद, कर्नाटक, बंगाल और अयोध्या के मुसलमान शासकों के इतिहासों में भी उक्त प्रकार की बातें बिलकुल दिखाई नहीं देतीं। उनके इतिहास तो केवल व्यक्ति-विषयक चरित्र ही हैं, पर शिवाजी के नाम के साथ जिस सत्ता का दृढ़ संबंध है, उसके इतिहास को तो मराठों का इतिहास कहना ही विशेष शोभा देता है।

३—कई अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने मराठों का इतिहास लिखा है, पर एक महत्वपूर्ण विषय की ओर उन्होंने बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। इतिहास का अध्ययन करनेवालों को

इस महत्वपूर्ण विषय से बहुत कुछ नैतिक शिक्षा मिल सकती है, यही नहीं, बल्कि इसी एक कारण के लिये मराठों के इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक है। सोलहवीं शताब्दी के अंत तथा सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में महाराष्ट्र में जो हलचल मची हुई थी, वह केवल राजनैतिक ही नहीं थी, वरन् राज्यक्रांति के पूर्व ही वहां पर धर्मक्रांति भी हो चुकी थी। और यदि वास्तव में देखा जावे तो वहां की जनता में केवल धार्मिक और सामाजिक उन्नति की चाह बढ़ जाने ही के कारण वहां पर राज्यक्रांति हो गई, अतः यदि धार्मिक जागृति न होती तो राज्यक्रांति भी कदापि नहीं हो सकती थी। हमें विश्वास है कि मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार होने ही से सारे महाराष्ट्र में हलचल मच गई जिससे शिवाजी और उनके सहायक भी उत्साहित हो गये। यद्यपि हमारा यह कथन सर्वथा असत्य नहीं है, तथापि हम एक इसी कारण से मराठों के उठने की बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। अर्थात् केवल मुसलमानों के अत्याचारों ही के कारण मराठों का उत्थान नहीं हुआ था। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सोलहवीं शताब्दी के दक्षिण के मुसलमान शासक अत्यंत हठीले तथा अपने ही धर्म के अध-भक्त थे, और औरंगजेब भी अपने धर्म का कट्टर पक्षपाती था, तथापि उनकी धार्मिक कट्टरता ही महाराष्ट्र साम्राज्य के विकास का कारण नहीं कही जा सकती। यदि वास्तव में देखा जावे तो औरंगजेब के पूर्व ही मराठों के उत्थान का आरंभ हो चुका था। मराठों और मुगलों के युद्धों में भी मराठों की ओर से किसी बात की कमी नहीं देख पड़ी थी, तथा अन्य

में तो उन्हीं की विजय हुई थी। पर सच बात तो यह है कि जिस प्रकार यूरोप में, सोलहवीं शताब्दी में, धार्मिक संशोधन का कार्य हुआ था, ठीक उसी प्रकार भारत में,—और विशेष कर दक्षिण में, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में, धार्मिक तथा सामाजिक पुनरुज्जीवन और संशोधन का कार्य हुआ था। पर वह धार्मिक जागृति भी केवल प्राचीन पौराणिक ब्राह्मण-धर्म के आधार पर ही नहीं हुई, वरन् जन्ममूलक वर्णभेद, आचार और सम्प्रदाय के बिलकुल विरुद्ध, नई शैली के अनुसार ही हुई थी। किसी के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने ही से वह श्रेष्ठ है या किसी अन्य जाति का कोई मनुष्य चाहे कितना ही पवित्र आचरण वाला क्यों न हो, तो भी वह अपवित्र और त्याज्य होता है, इस प्रकार के प्राचीन विचार नष्ट होकर, समाज को नैतिक शिक्षा देने के प्रीत्यर्थ ही, नूतन धार्मिक भावनाओं का उदय हुआ था। तदनुसार शुद्ध अंतःकरण और प्रेम के आगे संस्कार और यज्ञ-यागादि करके पुण्यप्राप्ति के मार्गों का कोई महत्व नहीं रहा और भक्तिभाव का पूज्य तथा कर्म के दाम्भिक स्वरूप को घृणित दृष्टि से देखा जाने लगा। महाराष्ट्र के सर्वसाधारण जनों ही के द्वारा उक्त प्रकार का धार्मिक पुनरुज्जीवन हुआ था। यद्यपि उच्च वर्णों के लोग भी उसमें सम्मिलित थे, पर उनमें किसी बात की भी विशेषता नहीं थी। उनके नेता तो साधु, कवि और तत्वज्ञानी ही थे और वे भी निम्न श्रेणी के ही थे। उनमें ब्राह्मणों का निरा अभाव भी नहीं था, पर उनकी अपेक्षा दर्जी, बढ़ई, कुम्हार, माली, बनिया, नाई आदि ही अधिक थे, तथा भंगी भी थे। इसीसे तुकाराम, रामदास, वामन

पंडित, एकनाथ, गोहिदास, चाखामेला, गोरा कुम्हार, नामदेव दर्जी आदि के नाम सुनते ही जनता प्रेममय और मोहित हो जाती थी। इस बात को दो सौ वर्ष बीत जाने पर भी इस समय के महाराष्ट्र वासियों के हृदयों पर उनके नामों का बहुत कुछ प्रभाव स्थापित हो गया है, अतः यह बात भी उस समय की धार्मिक हलचल की सफलता को ही बतलाती है। राजनैतिक नेता भी उन धार्मिक नेताओं के परामर्श के अनुसार ही कार्य करते थे। शिवाजी के मुख्य उपदेशक श्री-रामदासजी थे और अपनी अपूर्व दूरदर्शिता ही के कारण वे 'समर्थ' कहलाते थे। उन्हीं के परामर्श के अनुसार मराठों के राष्ट्रीय झंडे का रंग भगवा नियत किया गया था; तथा उन्हीं के उपदेश के अनुसार एक प्रकार की विशेष सम्मान-दर्शक प्रणाम करने की अर्थात् 'राम राम' कहने की, प्रथा चल पड़ी थी अतः इन दो घटनाओं, अर्थात् 'भगवा झंडा' और 'राम राम' कह के प्रणाम करने की प्रणाली, से भी उस समय की राजनैतिक हलचल का धार्मिक स्वरूप ध्यान में आ सकता है, तथा यह बात भी मालूम हो सकती है कि उस समय के लोगों को स्वतंत्र बनने की प्रेरणाएं किस प्रकार हुआ करती थीं। धर्म और राज्य का दृढ़ सम्बन्ध हो चुका था। बाजी-राव पेशवा पर धावडशी के ब्रह्मेन्द्र स्वामी की बड़ी कृपा थी, तथा विंचूरकर कुल के मूल पुरुष विट्ठल शिवदेव तो अपने गुरु की प्रेरणाओं के अनुसार ही सब काम करते थे। शिवाजी के शील और उनके प्रवर्तक हेतु का वर्णन कर्नल मेडोज टेलर ने अपने उपन्यासों में बहुत ही अच्छा किया है। मराठों के इतिहास के लेखक ग्रांट डफ का ग्रंथ पढ़ लेने ही से शिवाजी

के पराक्रम के कारण मालूम नहीं हो सकते। महाराजा शिवाजी का तो विश्वास था कि उन्हें माता भवानी की ही प्रेरणाएँ हुआ करती हैं। अर्थात् किसी संकट के समय, उनके शरीर में प्रवेश करके, श्रीभवानी जो कुछ आज्ञा उन्हें देती थीं, उसी के अनुसार वे कार्य करते थे। इतिहास-संशोधकों को उन सभी धार्मिक भावनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि उनका परिणाम अभी तक महाराष्ट्र-समाज पर स्थित है और उनका इतना प्रभाव स्थापित हो चुका है कि वह उन लोगों की धर्मश्रद्धा तथा भावी सुख की आशा में भी स्पष्ट रूप से देख पड़ता है। धार्मिक संशोधन के कारण पश्चिमीय यूरोप की राजनैतिक स्वतंत्रता पर जो कुछ परिणाम हुए, ठीक वैसे ही परिणाम पश्चिमीय भारत पर भी हुए हैं। इस प्रकार उनके विकास की गति शिल्प, कला, धर्म, देशी भाषा के साहित्य की वृद्धि, जाति-विषयक स्वतंत्र जीवनक्रम, स्वावलंबन और सहिष्णुता अर्थात् सहानुभूति की वृद्धि में भी देख पड़ती है। अत. जब तक उनकी अतस्थ चेतना उत्पन्न करनेवाले धर्मबुद्धिरूपी बीज का ज्ञान नहीं होगा, तब तक मराठों के इतिहास का सच्चा स्वरूप मालूम नहीं हो सकता। हमारा विश्वास है कि देशीय और विदेशीय इतिहास-संशोधक मराठों के इतिहास को जिस दृष्टि से देखते हैं, उसमें यदि हमारे उक्त कथन का भी समावेश किया जावेगा तो उस इतिहास का यह तीसरा स्वरूप अत्यंत उपयोगी होगा।

४—अब हमें इस इतिहास के एक और स्वरूप के विषय में कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है और उसके परिणाम को देखते यदि यह भी कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि

उसके कारण महाराष्ट्र-साम्राज्य की जितनी दृढ़ता हुई, उतनी ही उसकी निर्बलता भी हुई है। मराठों का इतिहास तो संयुक्त राज्यों के इतिहास की नाई है। उनका स्वराज्य स्थापित हो जाने पर उसका शासन विभिन्न मंत्रियों को सौंपा गया, जिससे महाराष्ट्र राज्य प्रस्थापक की मृत्यु हो जाने के अनंतर मुख्य शासक सदा निर्बल ही बने रहे। यद्यपि महाराज शिवाजी स्वराज्य-स्थापक थे, तथापि वे राज्य प्रबंध के विषय में राष्ट्रीय अधिकार विभाग के अनुसार ही शासन करते थे। किसी एक ही पुरुष के हाथ में राज्य-कार्य सौंप कर दूसरों से परामर्श न लेने की प्रथा उन्हें पसंद नहीं थी। उनके अष्ट प्रधान थे और वे उनके केवल परामर्शदाता ही नहीं थे, वरन् राज्य और सेना का प्रबंध उन्हीं पर सौंपा गया था। इसी प्रथा के कारण, जिस समय शिवाजी दिल्ली के कारागृह में कैद किये गये थे, और उनका देश तथा उसके अन्तर्गत गढ़ और किले मुसलमानों ने जीत लिये थे, उस समय इसी विभक्त-शासन प्रथा से ही बड़ा लाभ हुआ। राज्यशासन का कार्य अनेक सरदारों के हाथ में सौंपा गया था, इसी कारण कोई एक सरदार अपने तौर पर प्रबल नहीं हो सका और बंदीगृह से छुटकारा पाते ही वे पुनः राज्यसिंहासन पर बिठलाये गये। इसके सिवाय, जब औरंगजेब के सेनापति ने शिवाजी के पुत्र संभाजी को बंदीगृह में रखा और बड़ी क्रूरता से उनका वध करके उनके पुत्र को अपने जनानखाने में रखा, तब सारे मराठे सरदार दक्षिण की ओर चल दिये और योग्य अवसर पाते ही उन्होंने अपने राज्य को जीत कर औरंगजेब से, उसके किये का बदला लिया। पेशवाओं के राजत्वकाल में भी इसी प्रथा का

आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जब लोगों में उक्त प्रकार
वश-परम्परागत विशिष्ट गुण होते हैं, तभी संयुक्त मं
चिरस्थायी हो सकता है। जब तक उक्त गुण महारा
मंडल में थे, तब तक उसकी व्यवस्था के, मनोमोहक स्व
को देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता था। अतः जि
अल्पकाल में महाराष्ट्र मंडल में उक्त गुणों का प्रादुर्भाव है
था, उस समय का इतिहास हमारे देश-निवासी, तथा वि
शियों के लिये भी, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

४-नैतिक दृष्टि से भी इस इतिहास का मनोरंजक स्व
विशेष महत्त्वपूर्ण है। संयुक्त राज्य-प्रबंध के कारण ही म
राष्ट्र की अनेक संकटों से रक्षा हुई थी। केवल इतना
नहीं, वरन् उन संकटों के कारण वह और भी अ
बलवान् हो गया था। महाराष्ट्र को उक्त प्रकार के चार म
संकटों से सामना करना पड़ा था। वे महान् संकट ये हैं
(१) महाराज शिवाजी का, दिल्ली में, कैद होना; (२) मुं
के संभाजी के कैद करने पर राजाराम का दक्षिण को चे
जाना, (३) पानीपत के युद्ध में मराठों का हताश हो ज
तथा (४) नारायणराव पेशवा के मारे जाने पर जब राघो
दादा की आतुर महत्त्वाकांक्षा पूर्ण न हो सकी, और घर की फ़
रूपी अग्नि प्रज्वलित हो गई, इधर ब्रिटिश सत्ता का बल मराठे
विरुद्ध काम कर ही रहा था-ऐसी दशा में पूना-दरबार के नेता
को राज्य शासन करना पड़ा। महाराष्ट्र राज्य के लिये ये च
बड़े संकट के अवसर उपस्थित हुए, परन्तु फिर भी जि
राष्ट्र ने अपना सिर ऊंचा बनाये रखा उसके इतिहास का अ

यह बात दूसरी है कि उस राष्ट्र का राज्य अधिक काल तक स्थायी न रह सका। उसके इतिहास का महत्व केवल उसके न्यूनाधिक शासन-काल की मर्यादा से ही नहीं मापना चाहिए, किन्तु जिस संगठित शक्ति और जिस सर्वमान्य प्रणाली से उस शक्ति ने राज्य किया, वह अवश्य ही सब के लिए शिक्षादायक और चित्ताकर्षक है।

६—अंतिम स्तर से महत्व की बात भी देखिये। इस समय भी यद्यपि भारत के अंग्रेज़ शासक ठीक पेशवा या मुगल बादशाहों की तरह हैं, अर्थात् सारे भारत में उन्हीं का शासन सर्वश्रेष्ठ है, तो भी महाराष्ट्र-संयुक्त सत्ता के अवशिष्ट भाग अब भी मौजूद हैं, और वे अंग्रेज सरकार की अधीनता में स्वतंत्र रूप से राज्य करते हैं। ग्वालियर, इन्दौर, धार, देवास बड़ौदा और कोल्हापुर के राज्य तथा दक्षिण महाराष्ट्र के सरदार उन्हीं अवशिष्ट राज्यों में से हैं। बम्बई प्रदेश और अन्य देशी राज्य तथा मध्य प्रांत, बरार और निजाम के राज्य में रहने वाले तीन करोड़ मराठी-भाषा-भाषी भी उसी के अवशिष्ट अंग हैं। ये सभी अंगरेजी साम्राज्य में बड़ी शान से रहते हैं। इस समय भी उनका बहुत कुछ महत्व है और यदि उनकी अन्य लोगों से तुलना की जाये तो हमारा विश्वास है कि वे उनकी अपेक्षा किसी तरह कम नहीं हैं। यदि यथासमय राष्ट्रीयता के तत्व के अनुसार, भारत के विभिन्न विभाग बनेंगे; और उन विभागों की विभिन्न राजनैतिक संस्थाएं बनकर सारे भारत में अंग्रेजी सरकार के साम्राज्य शासन के सामान्य सूत्रों से बद्ध होंगी, तो उस समय भारतवर्ष जिन बातों को सिद्ध कर सकेगा, और इस देश की भावी

योग्यता किस प्रकार की होगी, उसका विचार करते सम
मराठों के इतिहास से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सकेगी
विशेष कर के वर्तमान मराठों का भावी इतिहास में कौन
कार्य करना होगा—इस बात का निर्णय करने के लिये म
मराठों के भूतकाल के इतिहास का बहुत कुछ उपयोग होगा

इस प्रकार हमें जिस महाराष्ट्र-मडल के उत्थान औ
पतन का वर्णन करना है, उसका स्थायी नैतिक और तात्त्वि
महत्व जिन मुख्य मुख्य बातों पर अवलम्बित है, उन्हीं क
हमने, संक्षेप में, इस परिच्छेद में, वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेद ।

—०—

क्षेत्र कैसे तैयार किया गया ?

प्राय: कई देशी और विदेशी इतिहास लेखक बेतुकी बातें कहा करते हैं कि मराठों का अभ्युदय तो कई आकस्मिक घटनाओं के कारण हुआ था, उनका उत्कर्ष होने के योग्य उनमें शक्ति नहीं थी और यदि उनका भाग्य अनुकूल न होता तो उनका नाम भी सुनाई न देता, इत्यादि। ग्रांटडफ साहब ने तो मराठों की उन्नति का सह्याद्रि पर्वत पर के दावानल की सी उपमा दी है। उनका कथन है कि जिस प्रकार अरण्य की दावाग्नि एकाएक जल उठती है, और वह अपने आप ही बुझ जाती है, उसी प्रकार मराठों की पराक्रमरूपी अग्नि जल उठी और बुझ गई। परन्तु हमारी राय में शायद उन्होंने, केवल अलंकार के शौक ही के कारण, उक्त उपमा का उपयोग किया है। क्योंकि यदि उसके विषय में पूर्ण विचार कर लेने पर उनका उक्त विश्वास हो जाता तो वे १७वीं शताब्दी से मराठों के उत्कर्ष की भित्ति जमने का वर्णन ही अपने इतिहास के प्रथम तीन भागों में न करते। अतः यदि वास्तव में देखा जाने तो केवल आकस्मिक बातों पर ही मराठों का उत्कर्ष अवलंबित नहीं था। सच तो यह है कि, मुसलमानों के महाराष्ट्र पर चढाई करने के पूर्व ही मराठों का कार्य आरम्भ हो गया था। उनके उत्कर्ष के सच्चे कारणों का ज्ञान प्राप्त करने

के लिये तो पंडित-प्रवर भांडारकरजी द्वारा संशोधित ताम्रपत्रों और शिलालेखों का यथावत् अध्ययन करना ही आवश्यक है। उस अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन कर लेने से हमें भली भांति मालूम हो जायगा कि (१) मुसलमानों के शासन के विरुद्ध सब से पहले महाराष्ट्र ही में क्यों प्रयत्न किया गया; तथा (२) मराठों की देशस्थिति और संस्थाओं के किन गुणों के कारण उन्हें उक्त प्रयत्न में सफलता मिली।

महाराष्ट्र की प्राकृतिक परिस्थिति ही इस प्रकार की है कि, जिससे उस देश के निवासियों का उत्कर्ष अवश्य ही होना चाहिए। उक्त प्रकार का लाभ गंगा, सिंध, अथवा अन्य अरब के समुद्र या हिंद महासागर में गिरनेवाली नदियों के प्रदेशों में प्राप्त नहीं हो सकता। उस देश के पश्चिम में तो सह्याद्रि पर्वत है तथा उत्तर में विन्ध्याचल और सतपुड़ा। उन पर्वतों की छोटी छोटी शाखाएं भी देश में चारों ओर फैल गई हैं; और उन पर्वत-शाखाओं की खोहों और घाटियों से निकलनेवाली नदियां अंत में गोदावरी और कृष्णा में गिरती हैं। इस प्रकार सैकड़ों छोटी बड़ी नदियों का चारों ओर जाल सा फैल गया है और देश भी बिलकुल पहाड़ी, उग्र तथा ऊंचा-नीचा है। भूगोल की दृष्टि से कोंकण—समुद्र और सह्याद्रि पर्वत के बीच का प्रदेश—महाराष्ट्र में ही गिना जाता है। पर्वत के शिखर पर के प्रदेश को 'घाट माथा' कहते हैं; और नीचे के प्रदेश को 'देश'। प्राय सभी पहाडियों पर किले बनाये गये हैं, जिससे स्वभावतः ही देश की रक्षा होती है। मराठों की राजनैतिक कार्यवाहियों में उन किलों ने भी बड़े महत्व का कार्य किया है। देश का स्वरूप अच्छा है,

ग्रौर वहा का जलवायु भी उत्तम तथा स्फूर्तिदायक है। उत्तरीय भारत के समथर या नीचे की ओर बसे हुए प्रदेशों की नाई महाराष्ट्र की वायु कभी अत्यत उष्ण और कभी अत्यत ठढी नहीं होती। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण पृथ्वी उपजाऊ नहीं है, पर वहा के निवासी बलवान, परिश्रमी और कष्टसहिष्णु होते हे। महाराष्ट्र का क्षेत्रफल एक लाख वर्गमील है, ग्रौर मनुष्य-सख्या तीन करोड है। उसका स्वरूप एक सम कोण त्रिभुज की तरह है। दमण से कारवार तक का सह्याद्रि पर्वत और समुद्र उस त्रिभुज का आधार है। सतपुडा के प्रारभ से ठेठ गोदावरी नदी के मुख तक का प्रदेश उसकी एक भुजा है और गोदावरी के मुख से लगाकर कारवार तक का मराठी-भाषा-भाषियों का प्रदेश उस त्रिभुज का कर्ण है। इस प्रकार महाराष्ट्र देश उत्तरीय भारत और दक्षिणीय प्रायद्वीप के बिलकुल सिरे पर है, जिससे उसे बड़ा ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो गया है। मेवार और मालवा प्रदेश की स्थिति भी ठीक महाराष्ट्र से मिलती जुलती है। पर, वे प्रदेश बिलकुल एक ओर होने से उन्हें महाराष्ट्र की नाई महत्व प्राप्त नहीं हुआ है।

इस देश के स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा वहा के निवासियों के स्वभावों का ही उस देश के इतिहास पर अधिक प्रभाव पडा है। उत्तरीय भारत में आर्यो की घनी बस्ती हो जाने से वहा के मूल निवासी प्राय निर्बल से हो गये हैं। केवल पहाड़ी प्रदेशों ही में वे कुछ शक्तिशाली देखे जाते हैं। दक्षिणी प्रायद्वीप में तो मूल निवासी द्रविड जाति ने अपना प्रभाव स्थायी रूप से जमा रखा है। आर्य जाति

वहां पर अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकी। महाराष्ट्र-निवासियों में उक्त दोनों जातियां सम्मिलित हो गई हैं, और उन दोनों जातियों के अवगुण नष्ट होकर गुणों का अंश उनमें बहुत कुछ रह गया है। मराठी भाषा ही हमारे उक्त कथन का निदर्शन है। वास्तव में मराठी भाषा का मूल स्वरूप तो द्राविडी है, पर आर्यों ने उसकी रचना में उलट-फेर कर के उसे पूर्ण दशा को पहुँचा दिया है। उत्तरीय भारत की तरह महाराष्ट्र निवासी गोरे रंग वाले, नाजुक और सुसंगठित शरीर वाले नहीं हैं। परन्तु दक्षिण के द्रविड लोगों की नाईं वे काले और भद्दे स्वरूप वाले भी नहीं हैं। महाराष्ट्र के वर्तमान आर्यों में, मूल आर्य और उनके अनन्तर वहां पर गई हुई, सीथियन नामक जाति भी सम्मिलित हो गई है। अनार्यों में भी मूल-निवासी कोल, भील, और जंगली 'रामोशी' नामक जाति का उच्च जाति के द्रविड लोगों से मिश्रण हो गया है।

मनुष्य-संख्या की उक्त दो जातियों के परिमाण-समेलन के कारण महाराष्ट्र के धर्म और संस्थाओं में जैसी समानता देख पड़ती है, वैसी भारत में कहीं पर भी नहीं दिखाई देती। उन संस्थाओं में से अधिक ध्यान में रखने के योग्य संस्था तो 'ग्रामसंस्था' है। विदेशियों के आक्रमणों के कारण वहां की हजारों संस्थायें नष्ट हो गईं, पर उक्त संस्था तो ऐसी दृढ भित्तियों पर रची गई है कि उसका स्वरूप अभी तक कायम है। अंग्रेजों ने भी इस ग्रामसंस्था और पंचायत को, अपने राज्य शासन में, उपयोग किया है। ठीक उक्त संस्था की तरह दूसरी उपयोगी संस्था मिरासदारों की है। छोटे छोटे कृषक

महत्वपूर्ण अन्तर के कारण महाराष्ट्र-निवासियों में स्वातन्त्र्य-प्रियता, पारस्परिक सहानुभूति और परस्पर सहायता करने की इच्छा, इत्यादि गुण स्वभावत ही उत्पन्न हो गये हैं। इस समय भी वे गुण उन लोगों में देख पडते हैं, और उनके स्वराज्य स्थापित करने के समय में भी वे ही गुण अधिक सहायक हुए थे।

महाराष्ट्र में धार्मिक कट्टरता भी नहीं देख पडती। तुंगभद्रा नदी के पार स्मार्त, वैष्णव आदि विभिन्न धार्मिक पंथों का जो मतभेद दिखाई देता है, वह महाराष्ट्र में नहीं है। यद्यपि महाराष्ट्र के उक्त पंथ कभी एकत्रित नहीं हुए, तथापि वे पारस्परिक ईर्ष्या से बचकर सदा उदासीन ही बने रहे। धर्म के विषय में सहनशील रहना उस देश में एक बडा भारी गुण है। वहा के ब्राह्मण और शूद्र आपस में मिल-जुल कर बडे प्रेमभाव से रहते है। गुरु, गोस्वामी महंत आदि लोगों का पाखंड भी वहां पर नहीं देख पडता। वहां के मूल निवासी हीन जाति के शूद्र वैष्णवों साधु-संतों के मत को स्वीकार करके, क्षत्रिय अथवा वैष्णव बन गये हैं। शूद्र, भंगी आदि नीच जातियों में भी प्रसिद्ध कवि और साधु हो गये हैं, तथा ब्राह्मण जाति भी उन्हें पूजती है। सारे देश में उनके विषय में बडा आदर-भाव है। इस प्रकार उक्त सहानुभूतिपूर्ण परिस्थिति में रहने वाले मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता भी बहुत कुछ कम हो गई, जिससे हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक उत्सवों में बडे आनन्द से मिलते रहे हैं। हिन्दू साधु-संतों में मुसलमान फकीरों की भी गणना की गई है, कई साधु-संतों को तो दोनों जातियां प्रेमपूर्वक पूजती

हैं। इस प्रकार अपने मत से भिन्न धर्मपंथियों का तिरस्कार न करके, अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म का स्वीकार करने की उदारता का गुण, कई शताब्दियों से, महाराष्ट्रियों में मौजूद है, अतएव उनमें कभी पारस्परिक फूट नहीं होती और न कभी किसी प्रकार के झगड़े-बखेड़े ही होते हैं। किसी भी विषय का उग्र स्वरूप हो जाने के पहले ही, उसके विषय में शांतिपूर्वक विचार करने की टेव भी उनमें है। सारांश यह है कि उनमें उक्त गुण अच्छी तरह से समा गये थे और इसमें बिलकुल संदेह नहीं है कि वे ही गुण उनकी उन्नति में बहुत कुछ सहायक भी हुए।

इस प्रकार देश का प्राकृतिक स्वरूप, लोगों का स्वभाव और संस्थाएं अपूर्व होने के कारण वहां पर विदेशियों का शासन अधिक काल तक कैसे टिक सकता था? मराठों के इतिहास से उक्त नियम की यथार्थता शीघ्र ही ज्ञात हो सकती है। वे लोग स्वभावतः ही स्वातंत्र्य-प्रिय हैं, और यद्यपि उन्हें कभी कभी विदेशियों की गुलामी भी करनी पड़ी, तथापि वे फिर से अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने के कार्य को करते ही रहे। किसी भी शासन का शासक, महाराष्ट्र पर, अधिक काल तक नहीं टिक सका है। भारत के अन्य प्रदेशों में भी कई राज्य देख पड़ते हैं, पर महाराष्ट्र की स्थिति बिलकुल भिन्न है। वहां पर तो छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यों का ही शासन अधिकता से है; और एकछत्रीय शासन के विरुद्ध वहां के लोग सर्वदा प्रयत्न करते रहते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बड़े पक्षपाती थे, तथापि वे सभी, एकत्रित होकर उत्तर की ओर से आये हुए शत्रुओं को हटाने का भी प्रयत्न

करते थे। कहा जाता है कि ईस्वी सन् के आरम्भ ही में शातवाहन अर्थात् शालिवाहन राजा ने सीथियन लोगों का पराभव किया था और ६०० वर्ष के अनन्तर चालुक्यवंशीय राजा पुलकेशी ने उन्हें फिर से हराया था। महाराष्ट्र में अनेक छोटे बड़े राज्य थे। शिलालेखों, प्राचीन सिक्कों तथा ताम्रपत्रों आदि से ज्ञात होता है कि इस देश के शासक बारम्बार बदलते थे। नगर, पैठन, बदामी, मालखेड, गोवा, कोल्हापुर कल्याण, देवगिरि, दौलताबाद आदि स्थान चालुक्य, राष्ट्रकूट, और यादव राजाओं की राजधानियां थीं। चालुक्य, नलवडे, कदम, मोरे, शेलार, अहीर और यादवों में भी अपना अपना अधिकार स्थापित करने के लिए झगड़े हुआ करते थे। उस देश पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने तक यही दशा रही। लगभग १४वीं शताब्दी के आरम्भ ही से मुसलमान लोग महाराष्ट्र पर चढ़ाई करने लगे थे। इसके २०० वर्ष पहले मुसलमानों का उत्तरीय भारत पर प्रभाव स्थापित हो चुका था, जिससे उनको अधिकांश देश के जीत लेने में केवल ३० ही वर्ष लगे। परन्तु पश्चिमीय महाराष्ट्र और कोंकन में प्रायः वे कभी अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सके। हां, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने कोंकन पर अधिकार जमा लिया था, परन्तु मावल या घाटमाथा को वे कभी नहीं जीत सके।

मुसलमानों के शासन के कारण भी उक्त प्रदेश के लोगों के व्यवहार बर्ताव तथा भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय भी प्रायः वह सारा प्रदेश हिन्दू किलेदारों के ही अधिकार में था। वहां की मनुष्य-संख्या में भी कोई फ़र्क़ नहीं

पड़ा। बहुत ही कम मुसलमान उस देश में आकर बस सके। वर्तमान समय में भी वहा की मुसलमान जनसंख्या बहुत ही कम है। महाराष्ट्र में मुसलमानों के शासन को कभी स्थायी स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। पर उत्तरीय और पूर्वीय भारत में तो मसजिदों और कबरों की अत्यंत अधिकता हुई, हिन्दू देवालय नष्ट हो गये और हिन्दू तो खुल्लमखुल्ला अपने देवताओं की पूजा भी नहीं कर सकते थे। यहा तक कि लोग अपने व्यवहार-बर्ताव में भी मुसलमानों की भाषा का ही उपयोग करने लगे। तभी से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि उत्तरीय भारत की उक्त प्रकार की स्थिति हो गई थी, तथापि महाराष्ट्र में उसका बिलकुल अनुभव नहीं हुआ। वहा पर मुसलमानों के शासनकाल में भी हिन्दू धर्म और देशी भाषा की उन्नति होती रही। अतः अब हमें इस बात का विचार करना आवश्यक है कि महाराष्ट्र में ही उक्त स्थिति क्यों हुई, और मुसलमानों के प्रभाव को नष्ट करके हिन्दुओं ने धीरे धीरे अपने राज्य की स्थापना कैसे की।

(१) जितने मुसलमान दक्षिण की ओर गये, उन्हें, अपना देश अधिक दूरी पर होने के कारण, हिन्दुओं में ही सम्मिलित होना पड़ा। दिल्ली में तो अफगान, खिलजी, तुर्क, मुगल आदि विभिन्न मुसलमान जातियां समय समय पर, उत्तर की ओर से आती थीं, जिससे मुसलमानों के धर्म और व्यवहार-बर्ताव का एक सा ही रूप बना रहा। पर दक्षिण के मुसलमानों में उनके जातिभाई बारम्बार सम्मिलित न हो सके, अतएव वहा पर मुसलमानों की सभ्यता का अधिक प्रचार नहीं हुआ।

(२) दक्षिण के बहमनी राज्य का संस्थापक हसन दिल्ली-निवासी गंगू नामक ब्राह्मण का सेवक था। उसके स्वामी ने उसके लिए, बड़े भाग्यशाली होने का भविष्य-कथन किया था। अतः हसन ने, गंगू के पूर्व-उपकार का, स्मरण करके अपना राज्य स्थापित करने पर उसे बहमनी राज्य तथा अपने को "हसन गंगू बहमनी" कहलाना शुरू कर दिया। इन बातों का अर्थ यही है कि दक्षिण में उस समय मुसलमानों ने भी एक प्रकार से हिन्दू-सम्मान को मान लिया था। परन्तु उत्तरीय भारत में यह बात न हुई। अस्तु। इस प्रकार दक्षिण में मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं के सम्मानित होने पर, हिन्दुओं का बड़ा प्रभाव स्थापित हुआ, और जब हसन ने गंगू को दिल्ली से बुला कर उसे सभी प्रकार के करों के वसूल करने का कार्य सौंपा, तब हिन्दुओं का दर्जा राजकाज में और भी बढ़ गया।

(३) फलतः भूमिकर वसूल करने और कोष की व्यवस्था दिल्ली की ओर से आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों ही के हाथ में रहने लगी, जो कि आगे चल कर धीरे धीरे दक्षिणी ब्राह्मणों और प्रभु लोगों के हाथ में चली गई।

(४) राज्य के आय-व्यय का हिसाब हिन्दुओं के अधिकार में आ जाने का फल यह हुआ कि, बहमनी राज्य नष्ट हो गया और उसकी जगह बीजापुर, बरार, अहमदनगर, बेदर और गोलकुंडा में पांच स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इन राज्यों के हिसाब-किताब के कार्यों में विदेशीय भाषा फारसी या उर्दू का उपयोग नहीं किया गया। अर्थात् उनके आय-व्यय के चिट्ठे तो, आरंभ से लगाकर अंत तक, देशी भाषा में ही लिखे जाते थे।

पडा। बहुत ही कम मुसलमान उस देश में आकर बस सके। वर्तमान समय में भी वहां की मुसलमान जनसंख्या बहुत ही कम है। महाराष्ट्र में मुसलमानों के शासन को कभी स्थायी स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। पर उत्तरीय और पूर्वीय भारत में तो मसजिदों और कबरों की अत्यंत अधिकता हुई, हिन्दू देवालय नष्ट हो गये और हिन्दू तो खुल्लमखुल्ला अपने देवताओं की पूजा भी नहीं कर सकते थे। यहां तक कि लोग अपने व्यवहार-बर्ताव में भी मुसलमानों की भाषा का ही उपयोग करने लगे। तभी से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि उत्तरीय भारत की उक्त प्रकार की स्थिति हो गई थी, तथापि महाराष्ट्र में उसका बिलकुल अनुभव नहीं हुआ। वहां पर मुसलमानों के शासनकाल में भी हिन्दू धर्म और देशी भाषा की उन्नति होती रही। अतः अब हमें इस बात का विचार करना आवश्यक है कि महाराष्ट्र में ही उक्त स्थिति क्यों हुई, और मुसलमानों के प्रभाव को नष्ट करके हिन्दुओं ने धीरे धीरे अपने राज्य की स्थापना कैसे की।

(१) जितने मुसलमान दक्षिण की ओर गये, उन्हें, अपना देश अधिक दूरी पर होने के कारण, हिन्दुओं में ही सम्मिलित होना पडा। दिल्ली में तो अफगान, खिलजी, तुर्क, मुगल आदि विभिन्न मुसलमान जातियां समय समय पर, उत्तर की ओर से आती थीं, जिससे मुसलमानों के धर्म और व्यवहार-बर्ताव का एक सा ही रूप बना रहा। पर दक्षिण के मुसलमानों में उनके जातिभाई बारम्बार सम्मिलित न हो सके, अतएव वहां पर मुसलमानों की सभ्यता का अधिक प्रचार नहीं हुआ।

(२) दक्षिण के वहमनी राज्य का संस्थापक हसन दिल्ली-निवासी गंगू नामक ब्राह्मण का सेवक था। उसके स्वामी ने उसके लिए, बड़े भाग्यशाली होने का भविष्य-कथन किया था। अतः हसन ने, गंगू के पूर्व-उपकार का स्मरण करके अपना राज्य स्थापित करने पर उसे वहमनी राज्य तथा अपने को "हसन गंगू वहमनी" कहलाना शुरू कर दिया। इन बातों का अर्थ यही है कि दक्षिण में उस समय मुसलमानों ने भी एक प्रकार से हिन्दू-सम्मान को मान लिया था। परन्तु उत्तरीय भारत में यह बात न हुई। अस्तु। इस प्रकार दक्षिण में मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं के सम्मानित होने पर, हिन्दुओं का बड़ा प्रभाव स्थापित हुआ, और जब हसन ने गंगू को दिल्ली से बुला कर उसे सभी प्रकार के करों के वसूल करने का कार्य सौंपा, तब हिन्दुओं का दर्जा राजकाज में और भी बढ़ गया।

(३) फलतः भूमिकर वसूल करने और कोष की व्यवस्था दिल्ली की ओर से आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों ही के हाथ में रहने लगी, जो कि आगे चल कर धीरे धीरे दक्षिणी ब्राह्मणों और प्रभु लोगों के हाथ में चली गई।

(४) राज्य के आय-व्यय का हिसाब हिन्दुओं के अधिकार में आ जाने का फल यह हुआ कि, वहमनी राज्य नष्ट हो गया और उसकी जगह बीजापुर, बरार, अहमदनगर, बेदर और गोलकुंडा में पांच स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इन राज्यों के हिसाब-किताब के कार्यों में विदेशीय भाषा फारसी या उर्दू का उपयोग नहीं किया गया। अर्थात् उनके आय-व्यय के चिट्ठे तो, आरंभ से लगाकर अंत तक, देशी भाषा में ही लिखे जाते थे।

(५) एक और कारण से भी हिन्दुओं का प्रभाव मुसलमानों पर स्थापित हो गया था । सन् १३४७ में मुसलमानों ने बलवा करके, तेलगण और विजयनगर के हिन्दू राजाओं की सहायता ही से, बादशाह मुहम्मद तुगलक को परास्त किया था । बहमनी राज्य ने तेलगण राज्य को तो नष्ट कर ही डाला था, पर विजयनगर का प्रभाव दो शताब्दियों तक बढता ही गया । अंत में पांच मुसलमान राज्यों ने, सन् १५६४ की तालीकाट की लडाई में, विजयनगर के राज्य को नष्ट कर डाला । उस हिन्दू राज्य का मुसलमानों के राज्यों पर बडा प्रभाव स्थापित होगया था । किसी समय तो यह राज्य इतना बलवान् था कि अहमदनगर और गोलकुंडा राज्यों ने मिल कर, जब उस पर चढ़ाई की, तब उसने उन दोनों की दाल नहीं गलने दी । उस युद्ध के समाप्त हो जाने पर उस राज्य ने एक मुसलमान राजा को, इसलिए सुलह करने को बाध्य किया कि शस्त्ररहित लोगों पर व्यर्थ ही आक्रमण न किया जावे—उस सुलहनामे के अनुसार लगभग सौ वर्ष तक हिन्दू और मुसलमान राजा मित्रभाव से बने रहे ।

(६) इस प्रकार दक्षिण का राज्य प्रबंध हिन्दू और मुसलमानों में विभाजित हो जाने के कारण उत्तरीय भारत की तरह, यहां पर मुसलमानों का अधिक प्रभाव स्थापित नहीं हुआ । हिन्दू लोग भी स्वराज्य का पूर्ण अनुभव कर रहे थे, जिससे उत्तरीय भारत-निवासियों की नाई वे विदेशियों के पूर्णतया अधीन होकर परतंत्र नहीं बने । उस समय यदि मुसलमान सैनिक अपने राजा से अप्रसन्न हो जाते तो विजयनगर के राजा के यहां पर नौकर हो जाते थे और मराठे लोग भी मुसलमान

हिन्दू रीति रिवाजों का मुसलमानों पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

(८) कई हिन्दुओं ने भी मुसलमानों के धर्म को स्वीकार किया था, पर उन्होंने अपने हिन्दू रीति-रिवाजों का त्याग नहीं किया, जिससे मुसलमान समाज में भी उन रीति रिवाजों का समावेश हो गया। अहमदनगर का पहला राजा बरार के पाथरी ग्राम के, एक नौमुसलिम ब्राह्मण कुलकर्णी (पटवारी) का लड़का था। उस ब्राह्मण का उपनाम भैरव था, इसीसे उसके वंशज 'बहिरी-राजा' कहलाये। उस वंश के राजाओं को अपने पूर्वजों के विषय में इतना अधिक पूज्य-भाव था कि उन्होंने बरार के राजा पर चढ़ाई करके पाथरी गांव को हस्तगत कर लिया और उसे वहां के ब्राह्मण कुलकर्णी को इनाम में दे दिया। बरार के इमादशाही राजवंश का मूलपुरुष भी विजयनगर राजवंश के आश्रय में रहने वाले एक ब्राह्मण का लड़का था। बरीदवंश के प्रथम राजा पर भी उसकी सेना का इतना अधिक प्रेम था कि ८०० मराठे सैनिक उसी के साथ मुसलमान बन गये थे और वे लोग उसके पूर्ण विश्वासपात्र थे।

(९) उक्त परिस्थिति के कारण दक्षिण के मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता कम हो गई थी, जिससे हिन्दुओं की धार्मिक निर्बलता भी अधिक नहीं हुई। यद्यपि कभी कभी मुसलमान लोग अत्याचार भी करते थे, तथापि उन्होंने हिन्दू धर्म की अवहेलना नहीं की। अर्थात् उनके शासनकाल में हिन्दुओं को बहुत कुछ धार्मिक स्वतंत्रता रही। मुसलमान राजाओं ने, सैनिक तथा आय-व्यय-विषयक अधिकार भी, हिन्दुओं को

राजा की सेवा करने के लिये तैयार हो जाया करते थे। यहाँ तक कि बहमनी राजा के तो २०६ मराठे ही शरीर-संरक्षक थे। बारंबार युद्ध करने का अवसर उपस्थित होने के कारण वहाँ के लोगों को युद्ध की शिक्षा और बहुत सा धन भी मिल जाया करता था। १६वीं शताब्दी में घाटगे, घोरपडे, यादव, निबालकर, मोरे, सिंदे, डफले, माने आदि बड़े बड़े मराठे सरदार दस दस बीस-बीस हजार सेना के सेनापति थे और उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें जागीरें भी दी गई थीं। मुसलमान राजाओं को तुर्क, ईरानी, पठान, मुगल आदि लोगों से कोई लाभ नहीं होता था, वरन् कष्ट ही होता था, इसीसे वे राजा उन लोगों को अपनी सेना में न रखकर प्राय मराठों को ही रखते थे। अर्थात् मराठे सिलेदार (अश्वरक्षक) और बारगीर (अश्ववाहकों) पर ही उनका बहुत कुछ निर्भर था।

(७) दक्षिण के मुसलमान राजा हिन्दू स्त्रियों के साथ विवाह भी करने लग गये थे। सातवें बहमनी राजा ने विजयनगर की राजकन्या के साथ विवाह किया था तथा सोनखेड के राजा की कन्या बहमनी वंश के ६वें राजा के साथ विवाहित हुई थी। बीजापुर के पहले राजा यूसुफ आदिलशाह ने मुकुंदराव नामक एक ब्राह्मण की बहन के साथ विवाह करके उसे अपनी पटरानी बनाया था। उसे 'बाबू जी खानुम' कहते थे, और यूसुफ की मृत्यु के अनन्तर उसी का लड़का बीजापुर की गद्दी पर बैठा था। बेदर के बरीदशाही वंश के पहले राजा ने भी अपने पहले पुत्र का विवाह साबाजी नामक मराठे की कन्या के साथ किया था। इस प्रकार उन विभिन्न जातियों में, विवाह की प्रथा प्रचलित हो जाने के कारण

नर्मदा और ताप्ती नदियों के दक्षिण में अपना शासन बढाने का फिर से प्रयत्न करने लगे। बादशाह अकबर के शासन-काल से लगा कर औरंगजेब के शासन-काल तक इस प्रकार का प्रयत्न होता रहा। हिन्दुओं को तो अपनी नष्टप्राय स्वतन्त्रता को पुनर्वार स्थापित करने के लिए ३०० वर्ष तक प्रयत्न करना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि दिल्ली के बादशाहों को दक्षिण के जीत लेने में सफलता प्राप्त हो जाती, तो हिन्दुओं को और भी ३०० वर्ष तक परतन्त्रता में रहना पड़ता, पर परमेश्वर की इच्छा तो कुछ और ही थी। वास्तव में वह नया सङ्कट बड़ा भयङ्कर था, और मुगल बादशाह ने उस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये अपने बृहद् राष्ट्र की सारी शक्ति को खर्च करने का भी दृढ निश्चय कर लिया था, जिससे दक्षिण के मुसलमान राजा और उनके मराठे सरदार, उस भावी सङ्कट से, बहुत ही भयभीत हो गये थे। मराठों का तो मिल-जुल कर काम न करने का प्राकृतिक स्वभाव ही था, अतएव युद्ध-भूमि पर, मुगल सेना का सामना करने की उनमें बिलकुल शक्ति नहीं थी। इसी से उन्हें छिप छिप कर मुसलमान सेना पर छापा मारने के उपाय का ही अवलम्बन करना पड़ा था। इस प्रकार की युद्ध-कला उन्हें बड़ी प्रिय थी और इस 'गनीमी कावा' के युद्ध में वे इतने चतुर थे कि इसमें उन्हें कोई भी हरा नहीं सकता था।

मराठों की स्वतन्त्रता पर मुसलमानों ने कुठाराघात करके जो पहला सङ्कट उपस्थित किया, उससे उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी रक्षा की। उन्हें लगभग ३०० वर्ष इसी प्रयत्न में बिताने पड़े; और इस अवधि में उन्होंने अपने अपूर्व

पहले दक्षिण पर चढ़ाई की थी, तब इन्हीं से सहायता मांगी थी। फलटन के निंबालकर भी बहुत प्रसिद्ध थे और मालोडी के झुंझारराव घाटगे का बीजापुर-दरबार में बड़ा प्रभाव था। कोंकन और घाट पर के प्रदेशों के मोरे, शिरके और महाडिक तथा दक्षिणीय मावल के गूजर और मोहिते बड़े योद्धा और सैनिक-कला-निपुण थे। इनमें से प्रत्येक के अधिकार में दस बीस हजार घोड़-सवार भी रहा करते थे। १७वीं शताब्दी के आरम्भ में भोंसला घराना प्रसिद्ध हुआ। इस घराने के लोग यादव और निंबालकर के सबंधी थे। यादव की कन्या शहाजी की माता और निंबालकर की कन्या उनकी पत्नी थी। मालोजी भोंसले उस कुल के मूलपुरुष थे। उस समय मालोजी के पुत्र शहाजी प्रथम श्रेणी के सरदार माने जाते थे। वे बड़े शक्तिशाली थे, और रंक को राजा तथा राजा को रंक, सरलता से, कर सकते थे। उन्होंने अहमदनगर की निजामशाही की ओर से मुगलों के साथ कई युद्ध किये थे।

इस प्रकार हिन्दुओं का प्रभाव चारों ओर स्थापित हो जाने के कारण गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर और बेदर के मुसलमान राज्यों के प्राय सारे अधिकार मराठे राजनीतिज्ञ और मराठे योद्धाओं के ही हाथ में थे। देश के सारे ग और किले केवल नाम ही के लिये मुसलमानों के अधिकार में थे, पर वास्तव में वे स्वतंत्र मराठे जागीरदारों के ही कब में थे। इस प्रकार उस देश को परतंत्रता के बंधनों से मु करने का प्रयत्न धीरे धीरे हो ही रहा था, कि इतने में ए दूसरा ही संकट उपस्थित हो गया। दिल्ली के बादश

मनुष्य ने चाद्बीबी को मार डाला और फिर मुगल सेना ने शीघ्र ही अहमदनगर को जीत कर, वहा के राजा को कैद कर के, उसे बुरानपुर को भेज दिया। यद्यपि निजामशाही की उक्त प्रकार की दुर्दशा होगई थी, तथापि उस राज्य के नेता एकदम निराश नहीं हुए, और उन्होंने पराडे के दक्षिण में, राजधानी के लिए एक नया ही नगर बसाया। मलिक अम्बर ने जुन्नर का राजधानी बना कर पुरानी निजामशाही के एक मनुष्य को गद्दी पर बिठलाया, और आप स्वयं ही राजकाज देखने लगा। मलिक अम्बर बड़ा राजनीति निपुण और शूर पुरुष था। उसने अहमदनगर को फिर से जीत लिया, और मुगलों तथा उनके अनुयायी बीजापुर के आदिलशाही राजाओं की परवाह न करके अहमदनगर के राजकाज को, बड़े धैर्य से २० वर्ष तक सम्हाला।

मलिक अम्बर को, मुगलों से निजामशाही राज्य की रक्षा करने में, शिवाजी के पिता शहाजी, फलटन के निंबालकर नाइक और प्रसिद्ध वीर लखजी जाधवराव से बड़ी सहायता मिली। यद्यपि सन् १६२० में निजामशाही राज्य का पराभव हुआ, तथापि उसका मुख्य कारण तो मुसलमान सरदारों की अकर्मण्यता ही थी। मराठे सरदार तो उस राज्य की रक्षा करने के लिए बड़ी वीरता से लड़ते रहे। केवल लखजी जाधवराव ने ही मुगलों से मित्रता कर ली थी। इस कार्रवाई के बदले में मुगलों ने सन् १६२१ में जाधवराव को १५००० घोड़सवार और २००० पैदल सेना का सेनापति बनाया। मुसलमान सरदारों की अकर्मण्यता ही के कारण मलिक अम्बर की कुछ भी नहीं चली और उसे अंत में अहमदनगर और

और शाहजहां की असंख्य सेना से हार मानकर उन्होंने, मुगल बादशाह के परामर्श के अनुसार सन् १६३७ में अहमदनगर की नौकरी छोडकर बीजापुर-दरबार की सेवा स्वीकार कर ली।

इस प्रकार निजामशाही का अंत हो गया, और अहमदनगर का सारा प्रदेश दिल्ली और बीजापुर के बादशाहों ने आपस में बांट लिया। तदनुसार नासिक का कुछ भाग, खानदेश, बरार और उत्तरीय कोंकन का प्रदेश मुगलों की ओर गया, और उन्होंने उस प्रदेश का प्रबन्ध करने के लिये एक सूबेदार नियत किया, और उसे सूबा-औरंगाबाद कहने लगे। शेष प्रदेश और मुख्यतः भीमा तथा नीरा नदियों के बीच के प्रदेश पर बीजापुर के आदिलशाही राजवंश का अधिकार हो गया। मुगलों ने अहमदनगर को नष्ट करने ही के लिये बीजापुर के बादशाहों से मित्रता की थी। सब से पहले सन् १६०१ ई० में उन दोनों बादशाहों में सुलह हुई थी, इसके बाद दोनों में विवाह-सम्बन्ध भी हुआ। इस प्रकार पारस्परिक प्रेम बढ़ता ही गया, पर वह मित्रता अधिक काल तक नहीं टिक सकी। अहमदनगर के हस्तगत कर लेने पर मुगलों को बीजापुर के प्रदेश को भी लेने की इच्छा उत्पन्न हो गई, और वे अपने पहले सम्बन्ध को भूलकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने लगे। बीजापुर के प्रसिद्ध राजा इब्राहीम आदिलशाह की सन् १६२६ में मृत्यु हो जाने पर, पांच ही वर्ष के अनन्तर, मुगल सेना ने बीजापुर को घेर लिया। उस समय इब्राहीम का लड़का मुहम्मद आदिलशाह राज्य करता था। उसने उस घेरे को हटाया, पर मुगलों ने फिर से सन् १६३६ में बीजापुर

उसके तख्त पर बैठे हुए नये राजा को शत्रुओं के हाथ में सौंप देने के लिये बाध्य होना पड़ा, तो भी वह निराश नहीं हुआ था। वह फिर से सैनिक सामग्री एकत्रित कर ही रहा था कि इतने में सन् १६२६ ई० में उसकी असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उसके सारे प्रयत्न वैसे ही रह गये। निजामशाही की सारी शक्ति को एकत्रित करके, उसपर आये हुए सङ्कट को दूर करने के लिए, उस राज्य में केवल वही एक योग्य पुरुष था। पर उसकी असामयिक मृत्यु के कारण निजामशाही का एक आधारस्तम्भ नष्ट हो गया, और वह राज्य डगमगाने लगा। उस समय शहाजी भोंसला ने भी इस राज्य को छोड़ दिया, और उन्होंने मुगलों से ५००० सवारों का अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् १६३१ ई० में मलिक अम्बर के पुत्र ने ही निजाम को मार डाला। इस प्रकार जब निजामशाही का पूर्ण पतन हो जाने के चिन्ह चारों ओर दिखाई देने लगे, तब शहाजी ने, पूर्व-उपकारों का स्मरण करके, अपने पुराने स्वामी को सहायता दी और निजामशाही के सिंहासन पर उसी घराने के एक मनुष्य को बिठाकर स्वयं ही राज-काज देखने लगे। उन्होंने नीरा नदी से लगाकर चवार के किले तक का सारा प्रदेश बड़ी वीरता से जीतकर उसे अहमदनगर के राज्य में सम्मिलित कर दिया। वास्तव में उस समय शहाजी ने इतना प्रभाव स्थापित कर दिया कि उनको पराभव करने के लिये मुगलों को २५००० सेना भेजनी पड़ी। लगभग चार वर्ष तक, अर्थात् सन् १६३२ से १६३६ तक, तो उन्होंने मुगलों की दाल नहीं गलने दी, पर शत्रुओं के अत्यंत बलवान् होने के कारण अंत में वे कुछ भी नहीं कर सके,

उस समय पुर्तगालवालों का भी प्रभाव धीरे धीरे कम हो रहा था। १६वीं सदी की तरह उनका प्रभाव नहीं था। केवल कोंकन का किनारा ही उनके अधिकार में था। वे केवल उतने ही प्रदेश को बचा कर चुपचाप बैठे थे। उस समय अंगरेजों का तो राजनैतिक क्षेत्र में बिलकुल ही महत्व नहीं था। उन्होंने केवल सूरत में ही एक छोटी सी कोठी खोल रखी थी।

उक्त सभी घटनाओं के विषय में विचार करने से ज्ञात होता है कि शिवाजी के जन्म के समय, और उनकी बाल्यावस्था में, दक्षिण में केवल मुगलों का ही प्रभाव था। उस समय मुगल ऐसे प्रबल हो गये थे कि दक्षिण का कोई भी राजा उन्हें हरा नहीं सकता था। काबुल से लगाकर बंगाल की खाड़ी तक और कुमाऊ के पहाड़ों से महाराष्ट्र तक चारों ओर उनका प्रभाव स्थापित हो गया था, अतएव महाराष्ट्रीय राजा भी उनसे बहुत डरते थे। जब सन १२१६ में अलाउद्दीन ने दक्षिण पर चढ़ाई की थी, तब महाराष्ट्र पर जिस प्रकार का संकट उपस्थित हुआ था, ठीक वैसा ही संकट, ३०० वर्षों के बाद, उस देश पर फिर से उपस्थित हो गया। पर महाराष्ट्र की उस समय की स्थिति, पहले की अपेक्षा बिलकुल भिन्न थी। हिन्दुओं ने सन् १२१६ के संकट के आगे तो अपना सिर झुका कर अपनी रक्षा कर ली थी, पर इस बार उनमें थोड़ी सी शक्ति भी आ गई थी। परतन्त्रतारूपी कठिन शिक्षा द्वारा वे बहुत कुछ चातुर्य प्राप्त कर चुके थे। विदेशी प्रभाव को तो वे बहुत कुछ नष्ट कर चुके थे, पर दासत्व के कारण उन्हें कई असहनीय दुःख सहने पड़े थे। उस समय न्याय,

पर चढाई कर दी, तब मुहम्मद को मुगलों के साथ सुलह करने के लिये बाध्य होना पडा। उसने दिल्ली के बादशाह को २० लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया, और शहाजी को मुगलों के सिपुर्द कर दिया। वास्तव में मुगल बादशाह को पूर्ण आशका थी कि शहाजी फिर से निजामशाही राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और इसीसे उसे मुहम्मदशाह के हाथ से लेकर अपने अधीन कर लिया था। पर कुछ दिनों के बाद शहाजी ने फिर से बीजापुर-दरबार की नौकरी को स्वीकार कर लिया, और उस दरबार ने उन्हें कर्नाटक प्रदेश की ओर नियत किया। यह मौका पाकर शहाजी ने वहां पर अपनी वीरता से बहुत सा प्रदेश जीता और अपने उत्तराधिकारियों के लिये, कावेरी नदी के तट पर, एक छोटा सा राज्य भी स्थापित किया। इधर बरार और बेदरशाही के राज्य तो पहले ही बीजापुर और अहमदनगर के राज्यों म सम्मिलित हो गये थे, पर केवल गोलकुडा का राज्य ही उस समय स्वतंत्र था। अत मुगलों ने उस ओर अपनी दृष्टि फेरी। उक्त समाचार पाते ही गोलकुडा के राजा ने मुगलों को कर देना स्वीकार करके अपनी रक्षा कर ली। इसके बाद मुगलों ने उस राजा पर युद्ध के व्यय का भारी बोझ रख दिया, पर उतना धन देने का सामर्थ्य तो उसमें नहीं था, अत॰ जब शाहजहा के पुत्र औरगज़ेब ने गोलकुडा राज्य की राजधानी हैदराबाद पर एकदम चढाई करके, वहा के राजा को गोलकुंडा के किले में कैद किया, तब उसने बेवश होकर उस भारी कर को देना स्वीकृत कर लिया।

कर प्रत्येक मनुष्य उस संकट के निवारण करने का प्रयत्न करने लगा। जब अलाउद्दीन ने चढाई की थी, तब लोगों के मन की दशा उक्त प्रकार की नहीं थी। उस समय मुसलमान लोग पहली ही बार दक्षिण की ओर गये थे, अत उन्हें उनके अत्याचारों का ज्ञान नहीं था। परन्तु गत ३०० वर्षों म उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो गया, अतएव वे फिर से अपने देश में मुसलमानों को आश्रय देने के लिए तैयार नही थे। इसके अतिरिक्त गत ३०० वर्षों म ज्यों ज्यों मुसलमान जाति हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार करती गई, त्यों त्यों हिन्दुओं का धार्मिक अभिमान भी जागृत होता गया। इसी से उस समय लोग अपने धर्म की रक्षा करने के लिए अपने प्राण तक दे देने को तैयार हो गये थे। विल्क्स साहब न मैसोर का इतिहास लिखा है, उसमें उन्होंने एक बडी आश्चर्य-जनक घटना की चर्चा की है। उनका कथन है कि मेरे इतिहास के लिए मेकेंजी साहब की एकत्रित की हुई हस्तलिखित सामग्री म सन् १६४६ की लिखी हुई एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक मिली थी। उसमें धर्म और नीति का ह्रास और बडे बडे पुरुषों पर आये हुए सकटो का बडा ही हृदयद्रावक वर्णन था। अन्त म यह भविष्य-कथन भी उसमें था कि, "ईश्वर की कृपा से उस दुखदायी समय का अन्त होगा, परतत्रता से उस देश की शीघ्र ही मुक्ति होगी, और उस समय चारों ओर आनन्द ही आनन्द उमड पडेगा। कुमारी कन्याएँ गीत गायेंगी, तथा आकाश से पुष्प-वर्षा होगी।" महाराजा शिवाजी ने ही अपने बुद्धि-बल और बाहु-बल पर दक्षिण को विदेशियों की गुलामी से मुक्त किया

आय-व्यय तथा दरबार इत्यादि के सब कार्य उन्हीं की भाषा में हुआ करते थे और प्रादेशिक प्रबंध भी उन्हीं के अधिकार में था। उनके सेनापतियों ने रणभूमि में भी सफलता प्राप्त की थी, और राजनैतिक कार्यों मे, उन्ही के राजनीतिज्ञों से, परामर्श लिया जाता था। मुरारराव और शहाजी भोंसले तो बीजापुर-दरबार के मुख्य आधार-स्तम्भ ही थे और गोलकुंडा का सारा शासन भी मदन पंडित के ही अधिकार में था। पश्चिमीय घाट, पर्वतों पर के किले, और मावल प्रदेश मराठे सरदारों के ही अधीन था। कृष्णा नदी के उद्गम-स्थान से ठेठ वारना नदी तक का सारा बाट-माथा चंद्रराव मोरे के अधिकार मे था। दक्षिणीय कोकन सावत के, फलटन निवालकर के, तथा सितारे के पूर्वीय भाग डफले और माने के हाथ में थे। पूना प्रांत के 'मावल' से लेकर पूर्व मे बारामती-इन्दापूर तक का सारा प्रदेश भोंसले के अधिकार मे जागीर के तौर पर था। घोरपडे, घाटगे, महाडिक, मोहिते, मामुलकर आदि मराठे सरदारों के आश्रय मे भी बहुत से घुड़सवार, पैदल आदि फौज रहा करती थी। गोलकुंडा, बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में भी सच्चे शूर और योद्धा तो केवल मराठे ही थे और उन मराठे बहादुरों ने अनेक शस्त्रधारी मुगल सैनिकों का सामना करके उनके बल का अनुमान कर लिया था। उस समय महाराष्ट्र की उक्त स्थिति होने के कारण जब मुसलमानो ने दूसरी बार दक्षिण पर चढ़ाई की, तब लोगों के मन में नई भावनाओं की जागृति हो उठी और गत ३०० वर्षों मे मुसलमानों के किये हुए धार्मिक अत्याचारों का चित्र उनके सामने खड़ा हो गया, और भावी संकट से सचेत हो

कर प्रत्येक मनुष्य उस संकट के निवारण करने का प्रयत्न करने लगा। जब अलाउद्दीन ने चढाई की थी, तब लोगों के मन की दशा उक्त प्रकार की नहीं थी। उस समय मुसलमान लोग पहली ही बार दक्षिण की ओर गये थे, अत उन्हें उनके अत्याचारों का ज्ञान नहीं था। परन्तु गत ३०० वर्षों में उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो गया, अतएव वे फिर से अपने देश में मुसलमानों को आश्रय देने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त गत ३०० वर्षों में ज्यों ज्यों मुसलमान जाति हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार करती गई, त्यों त्यों हिन्दुओं का धार्मिक अभिमान भी जागृत होता गया। इसी से उस समय लोग अपने धर्म की रक्षा करने के लिए अपने प्राण तक दे देने को तयार हो गये थे। विल्क्स साहब ने मेसोर का इतिहास लिखा है, उसमें उन्होंने एक बडी आश्चर्य-जनक घटना की चर्चा की है। उनका कथन है कि मेरे इतिहास के लिए मेकेंजी साहब की एकत्रित की हुई हस्तलिखित सामग्री में सन् १६४६ की लिखी हुई एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक मिली थी। उसमें धर्म और नीति का ह्रास और बडे बडे पुरुषों पर आये हुए सकटों का बडा ही हृदयद्रावक वर्णन था। अन्त में यह भविष्य कथन भी उसमें था कि, "ईश्वर की कृपा से उस दुखदायी समय का अन्त होगा, परतन्त्रता से उस देश की शीघ्र ही मुक्ति होगी, और उस समय चारों ओर आनन्द ही आनन्द उमड पडेगा। कुमारी कन्याएँ गीत गायेंगी, तथा आकाश से पुष्प-वर्षा होगी।" महाराजा शिवाजी ने ही अपने बुद्धि बल और बाहु-बल पर दक्षिण को विदेशियों की गुलामी से मुक्त किया

आय-व्यय तथा दरबार इत्यादि के सब कार्य उन्हीं की भाषा में हुआ करते थे और प्रादेशिक प्रबंध भी उन्हीं के अधिकार में था। उनके सेनापतियों ने रणभूमि में भी सफलता प्राप्त की थी, और राजनैतिक कार्यों में, उन्हीं के राजनीतिज्ञों से, परामर्श लिया जाता था। मुरारराव और शहाजी भोंसले तो बीजापुर-दरबार के मुख्य आधार-स्तम्भ ही थे और गोलकुंडा का सारा शासन भी मदन पंडित के ही अधिकार में था। पश्चिमीय घाट, पर्वतों पर के किले, और मावल प्रदेश मराठे सरदारों के ही अधीन था। कृष्णा नदी के उद्गम-स्थान से ठेठ वारना नदी तक का सारा घाट-माथा चन्द्रराव मोरे के अधिकार में था। दक्षिणीय कोकन सावंत के, फलटन निंबालकर के, तथा सितारे के पूर्वीय भाग डफले और माने के हाथ में थे। पूना प्रांत के 'मावल' से लेकर पूर्व में बारामती-इन्दापूर तक का सारा प्रदेश भोंसले के अधिकार में जागीर के तौर पर था। घोरपडे, घाटगे, महाडिक, मोहिते, मामुलकर आदि मराठे सरदारों के आश्रय में भी बहुत से घुड़सवार, पैदल आदि फौज रहा करती थी। गोलकंडा, बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में भी सच्चे शूर और योद्धा तो केवल मराठे ही थे और उन मराठे बहादुरों ने अनेक शस्त्रधारी मुगल सैनिकों का सामना करके उनके बल का अनुमान कर लिया था। उस समय महाराष्ट्र की उक्त स्थिति होने के कारण जब मुसलमानों ने दूसरी बार दक्षिण पर चढ़ाई की, तब लोगों के मन में नई भावनाओं की जागृति हो उठी और गत ३०० वर्षों में मुसलमानों के किये हुए धार्मिक अत्याचारों का चित्र उनके सामने खड़ा हो गया, और भावी संकट से सचेत हो

कर प्रत्येक मनुष्य उस संकट के निवारण करने का प्रयत्न करने लगा। जब अलाउद्दीन ने चढ़ाई की थी, तब लोगों के मन की दशा उक्त प्रकार की नहीं थी। उस समय मुसलमान लोग पहली ही बार दक्षिण की ओर गये थे, अत उन्हें उनके अत्याचारों का ज्ञान नहीं था। परन्तु गत ३०० वर्षों में उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो गया, अतएव वे फिर से अपने देश में मुसलमानों को आश्रय देने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त गत ३०० वर्षों में ज्यों ज्यों मुसलमान जाति हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार करती गई, त्यों त्यों हिन्दुओं का धार्मिक अभिमान भी जागृत होता गया। इसी से उस समय लोग अपने धर्म की रक्षा करने के लिए अपने प्राण तक दे देने को तैयार हो गये थे। विल्क्स साहब ने मसोर का इतिहास लिखा है, उसमें उन्होंने एक बड़ी आश्चर्य-जनक घटना की चर्चा की है। उनका कथन है कि मेरे इतिहास के लिए मेकेंजी साहब की एकत्रित की हुई हस्तलिखित सामग्री में सन् १६४६ की लिखी हुई एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक मिली थी। उसमें धर्म और नीति का ह्रास और बड़े बड़े पुरुषों पर आये हुए सकटों का बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन था। अन्त में यह भविष्य-कथन भी उसमें था कि, "ईश्वर की कृपा से उस दुखदायी समय का अन्त होगा, परतत्रता से उस देश की शीघ्र ही मुक्ति होगी, और उस समय चारों ओर आनन्द ही आनन्द उमड़ पड़ेगा। कुमारी कन्याएँ गीत गायेंगी, तथा आकाश से पुष्प-वर्षा होगी।" महाराजा शिवाजी ने ही अपने बुद्धि-बल और बाहु-बल पर दक्षिण को विदेशियों की गुलामी से मुक्त किया

आय-व्यय तथा दरबार इत्यादि के सब कार्य उन्हीं की भाषा में हुआ करते थे और प्रादेशिक प्रबंध भी उन्हीं के अधिकार में था। उनके सेनापतियों ने रणभूमि में भी सफलता प्राप्त की थी, और राजनैतिक कार्यों में, उन्हीं के राजनीतिज्ञों से, परामर्श लिया जाता था। मुरारराव और शहाजी भोंसले तो बीजापुर-दरबार के मुख्य आधार-स्तम्भ ही थे और गोलकुंडा का सारा शासन भी मदन पंडित के ही अधिकार में था। पश्चिमीय घाट, पर्वतों पर के क़िले, और मावल प्रदेश मराठे सरदारों के ही अधीन था। कृष्णा नदी के उद्गम-स्थान से ठेठ वारना नदी तक का सारा घाट-माथा चन्द्रराव मोरे के अधिकार में था। दक्षिणीय कोंकन सावंत के, फलटन निंबालकर के, तथा सितारे के पूर्वीय भाग डफले और माने के हाथ में थे। पूना प्रांत के 'मावल' से लेकर पूर्व में बारामती-इंदापूर तक का सारा प्रदेश भोंसले के अधिकार में जागीर के तौर पर था। घोरपडे, घाटगे, महाडिक, मोहिते, मामुलकर आदि मराठे सरदारों के आश्रय में भी बहुत से घुड़सवार, पैदल आदि फौज रहा करती थी। गोलकुंडा, बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में भी सच्चे शूर और योद्धा तो केवल मराठे ही थे और उन मराठे बहादुरों ने अनेक शस्त्रधारी मुग़ल सैनिकों का सामना करके उनके बल का अनुमान कर लिया था। उस समय महाराष्ट्र की उक्त स्थिति होने के कारण जब मुसलमानों ने दूसरी बार दक्षिण पर चढ़ाई की, तब लोगों के मन में नई भावनाओं की जागृति हो उठी और गत ३०० वर्षों में मुसलमानों के किये हुए धार्मिक अत्याचारों का चित्र उनके सामने खड़ा हो गया, और भावी संकट से सचेत हो

से दुनिया की ओर लगाया। शिवाजी के जीवन में कई सकट-पूर्ण अवसर उपस्थित हुए थे ओर यदि उस समय वे कर्मपथ से विचलित हो जाते, तो उनकी सारी भावी आशाए नष्ट हो जातीं। पर उन सभी अवसरों पर उन्होंने ईश्वर को ही सच्चा मार्ग-दर्शक जानकर उसकी प्रार्थना की। उन्हें विश्वास था कि परमेश्वर हमारे अन्त करण में प्रेरणा करके हमारे ऊपर आये हुए सकटों से मुक्ति पाने का अवश्य ही मार्ग बतलायेगा। इसीसे ईश्वर-प्रार्थना करते समय, उनके शरीर में एक प्रकार की शक्ति का सचार हो जाया करता था, और उस समय वे जो कुछ कहा करते थे, उसे उनके मत्री लिख लेते थे। शिवाजी का उन बातों पर बडा विश्वास था। और उनके अनुसार ही वे अपना बर्त्ताव रखते थे। उन बातों के अनुसार, चाहे कोई कार्य कितना ही कठिन क्यों न हो, पर वे उसे अवश्य ही पूरा करते थे। यहां तक कि वे उन शब्दों पर विश्वास रखने के कारण ही औरंगजेब के हाथ मे, जाकर दिल्ली के कारागार में कैद रहे। और, उनपर विश्वास रखने के ही कारण वे कालरूपी अफजलखा के साथ लडने के लिये तैयार हो गये थे। उनके तीन बार राज्य-त्याग की, और शरीर में किसी शक्ति के सचार करने की, बातें पढकर हम कह सकते हैं कि उन्होंने, भौतिक बातों की ओर ही ध्यान देकर अथवा कोई गुप्त हेतु सिद्ध करने के ही उद्देश्य से, कोई कार्य नहीं किया था, किन्तु इसमें कोई सदेह नहीं कि, शिवाजी के द्वारा जो कुछ कार्य हुए, वे मनुष्य-जीवन के अत्यत उदात्त स्वभाव की स्फूर्ति के कारण ही हुए थे।

सुनकर आशाओं से उमड़ उठा था। शिवाजी को छुटपन ही से महाभारत और रामायण की कथाएं सुनने का चाव था। अतः जहां कहीं पर कथा या किसी प्रसिद्ध पौराणिक का पुराण होता था, वहीं पर, उसे सुनने के लिये, वे कोसों पैदल ही चलकर जाते थे। शिवाजी बड़े श्रद्धालु थे और उनका वह गुण कभी कम नहीं हुआ। इस धार्मिक श्रद्धा के ही कारण, केवल स्वहित साधने से सन्तुष्ट न रहकर, उन्होंने अपने देश और देशभाइयों के प्रीत्यर्थ कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करने की बात मन में ठानी। उनका यह भी विश्वास था कि अपने हित की चिन्ता न करके दूसरों का हित साधने ही के लिये मेरा अवतार हुआ है। ईश्वर पर पूर्ण विश्वास और असीम धार्मिक श्रद्धा के बिना, मनुष्य के मन में उक्त प्रकार के उच्च भाव कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते। अर्थात् शिवाजी के श्रद्धापूर्ण स्वभाव ही के कारण उनमें अत्यंत उत्साह उत्पन्न हो गया था। हां, बाल्यावस्था में उन्हें उस उत्साह का महत्व मालूम नहीं हुआ था। इसीसे उनके बाल्यावस्था के कार्यों में कोई तारतम्य नहीं देख पड़ता है। परन्तु ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ने लगी, त्यों त्यों उनके मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते गये कि "किसी विशेष कार्य को करने ही के लिये परमेश्वर ने मुझे जन्म दिया है, और उस कार्य को मुझे करना ही होगा।" उन्होंने अपने जीवन में तीन बार, प्राप्त किये हुए राज्य-वैभव को त्याग कर, मोक्ष-प्राप्ति के लिये वन में रहना ही पसन्द किया था। परन्तु उक्त तीनों अवसरों पर उनके गुरु और मंत्रियों ने उन्हें उनके कर्तव्यों का स्मरण दिलाकर, बड़े प्रयत्न से, उनका मन फिर

के नेता बने थे, उसी समय तुकाराम, रामदास, एकनाथ स्वामी, जयरामस्वामी आदि महात्माओं ने लोगों के धर्मगुरु बनने का कार्य स्वीकार कर लिया था। उन धर्मोपदेशकों के स्थापित किये हुए नये धर्म पर्थों में ब्राह्मण, शूद्र आदि सभी उच्च-नीच जातियां सम्मिलित हो गई थीं। पंढरपुर तो विट्ठल-भक्तों का दूसरा वैकुण्ठ ही बन गया था। सहस्रों लोग बहुत दूरी पर से, प्रति वर्ष पंढरपुर की यात्रा करने के लिये जाया करते थे। बड़े बड़े नगरों और छोटे छोटे ग्रामों में भी सदासर्वदा कथा-पुराण हुआ करते थे। जब अकबर का बन्द किया हुआ जजिया कर औरंगज़ेब ने फिर हिन्दू प्रजा से लेना आरंभ कर दिया, तब सवाई जयसिंह ने औरंगजेब को जो उपदेश दिया, उससे यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि कथा-पुराणों का लोक समाज पर कैसा प्रभाव था। राजा जयसिंह ने औरंगजेब से कहा था कि, "परमात्मा केवल मुसलमानों का ही देव नहीं है। वह एक है, और सारे प्राणियों का रक्षक है। मुसलमान और मूर्तिपूजक हिन्दू दोनों उसी के बालक हैं, अतः हिन्दुओं को कष्ट देना मानों परमेश्वर की इच्छा का अपमान करना ही है।" जयसिंह के उक्त उपदेश में बड़े ही उदार तत्त्व भरे हैं। और वास्तव में उक्त धार्मिक तत्वों की उस समय पूर्णतया जागृति हो गई थी और चूंकि वे लोगों के मन पर प्रतिबिंबित हो गये थे, इसलिये मराठों के व्यवहार बर्ताव में बड़ा परिवर्तन हो गया था। कई मुसलमानों पर भी उक्त तत्वों का प्रभाव स्थापित हो गया था। इसी उदार-मतवादिता के कारण अबुलफज़ल और फैजी ने महाभारत तथा रामायण के अनुवाद किये थे। अकबर बादशाह ने तो

शिवाजी के चरित्र का यह स्वरूप विदेशी इतिहास-लेखकों को बिलकुल ही मालूम नहीं हुआ। शिवाजी को, उनके समय के लोगों में, आदर्श पुरुष माना गया है। इसका कारण केवल उनका साहस और शूरता ही नहीं, वरन् उनकी उपर्युक्त प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति ही है। महाराष्ट्र का लोकसमाज सर्वदा शांत रहता है, जब उसकी धार्मिक भावनाएं जागृत की जाती हैं, तभी लोक-समाज में चेतना उत्पन्न होती है। गत ३०० वर्षों में मुसलमान धर्म के सहवास के कारण महाराष्ट्र में धार्मिक विषय में, बहुत कुछ हलचल मच गई थी, नये नये धार्मिक मतों का चारों ओर प्रचार हो रहा था। रामानन्द, रामानुज आदि प्रसिद्ध वैष्णवाचार्यों के प्रतिपादित धार्मिक तत्वों को लोग स्वीकार करने लग गये थे, और इस प्रकार के उदार धार्मिक तत्व लोगों के मन पर प्रतिबिम्बित हो गये थे। परमेश्वर के घर उच्च-नीच का कोई भेद नहीं होता, अतः सभी जातियाँ मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। रामानन्द, कबीर, रामदास, रोहिदास, सूरदास, नानक, चैतन्य आदि प्रसिद्ध महात्मा भी उक्त सिद्धान्तों का ही प्रचार कर रहे थे। साथही मुसलमानों के धर्म के सहवास से हिन्दुओं के तेंतीस करोड़ देवताओं के विचार नष्ट हो रहे थे, और "एको देव केशवो वा शिवो वा" के तत्व का प्रभाव लोक-समाज पर पड़ता जाता था। महाराष्ट्र में तो उक्त धार्मिक सुधार का कार्य बड़ी शीघ्रता से हो रहा था और साधुसंत चारों ओर राम रहीम को मानने, जाति-भेद के विचार को त्याग देने और परमेश्वर पर विश्वास रखकर भ्रातृभाव से रहने का उपदेश करते फिरते थे। जिस समय शिवाजी राजनैतिक विषय में मराठों

ही हो गया था। इसी से उनमें अपूर्व शूरता का आविर्भाव हुआ था। उस आवेश के ही कारण वे लोगों के मन को अपने वश में कर सके थे। अर्थात् केवल राजनीतिज्ञता के ही बल पर उन्होंने स्वराज्य की स्थापना नहीं की थी, किन्तु आध्यात्मिक प्रभाव भी इसके लिये कारणीभूत हुआ था।

इसके अतिरिक्त महाराज शिवाजी का विश्वास था कि जब तक महाराष्ट्र-मंडल में एकता नहीं होगी, तब तक मुसलमानों के अत्याचारों से स्वदेश की मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि शहाजी और दादोजी कोंडदेव को उक्त बात का महत्व कैसे मालूम नहीं हुआ? शिवाजी के हतभाग्य पुत्र संभाजी को उपदेश करने के लिए समर्थ रामदासजी ने जो पद्य लिखे थे, उनमें उन्होंने शिवाजी के विषय में अपने विचार अच्छी तरह से प्रकट किये हैं। मराठों में एकता करके स्वदेश और स्वधर्म विषयक दायित्व का उन्हें पूर्ण ज्ञान कराने ही के लिये शिवाजी ने अत्यन्त परिश्रम किये थे, तथा महाराष्ट्र को राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कराने के लिये वे बराबर प्रयत्न करते रहे। यदि शिवाजी के उक्त उद्देश के विषय में विचार किया जावे तो उनके द्वारा जो आक्षेपपूर्ण कार्य हुए हैं उनका भी अच्छी तरह से खुलासा हो जायगा। महाराज शिवाजी को यह बात अच्छी तरह से मालूम हो गई थी कि यदि मराठे सरदार अपने हित की ही ओर ध्यान देकर, अपनी छोटी सी जागीर की रक्षा करने, या उसे बढ़ाने के लिये आपस में ही झगड़ने लगेंगे तो जिस प्रकार ४०० वर्ष पूर्व अफगानों ने महाराष्ट्र को जीत लिया था, उसी प्रकार मुगल भी उसे धर दबायेंगे। सचमुच वह समय ही इस

हिन्दू और मुसलमान धर्मों के सत्य सिद्धान्तों को चुन कर, एक नया धर्मपंथ स्थापित किया था, और इस प्रकार धार्मिक मतभेद को मिटाने का प्रयत्न किया था। शाहजहा के बड़े पुत्र दाराशाह ने भी उपनिषद् और गीता के अनुवाद करवाये थे। इस प्रकार उस समय नये विचारों का प्रचार हो रहा था। कबीर ने उत्तर में और शेख मुहम्मद ने महाराष्ट्र में उन्हीं उच्च तत्वों का प्रचार किया था। उस समय उन्होंने दोनों धर्मों के अंधभक्तों की उपेक्षा की और इस समय भी उन साधुओं को हिन्दू मुसलमान बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

उस समय महाराष्ट्र की उक्त परिस्थिति थी। चारों ओर धर्म-जागृति हो जाने के कारण लोगों ने आर्य-धर्म के शुद्ध सिद्धान्तों के अनुसार अपने आचरण को संगठित करने का निश्चय कर लिया था, और उनके भ्रमपूर्ण सिद्धान्त नष्ट हो रहे थे। उन नये तत्वों से लोगों के मन प्रभावान्वित हो जाने के कारण, सभी बातों को स्वीकार करने के लिये, वे बाध्य नहीं किये जा सकते थे। अर्थात् पहले की तरह लोग ज़बर्दस्ती किसी बात को मानने के लिये तैयार न थे, इस कारण जनता को, मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार अत्यत असहनीय मालूम होते थे। साथ ही उन्होंने मुसलमानों को धार्मिक अत्याचार न करने देने का दृढ निश्चय भी कर लिया था। कोल्हापुर और तुलजापुर की देवियों के उपासकों ने तो यही बात मन में ठान ली थी तथा भाट और गोंधली (कीर्तनिये) लोगों को इस विषय में सर्वदा जागृत करते रहते थे।

रामदास, तुकाराम आदि सत्पुरुषों के सहवास में रहने के कारण शिवाजी के अन्दर तो उक्तशक्तिका पूर्णतया संचार

अपने स्वार्थ को त्याग देने के लिए तैयार हो गये। मुसलमान राजाओं में भी, आपस में, युद्ध कराने का शिवाजी ने जो प्रयत्न किया उसमें भी उनका एक मात्र वही उद्देश था। यद्यपि किसी समय उन्हें हार जाना पड़ा था, तथापि उन्होंने महाराष्ट्र मंडल में एकता करके, उनके मन में साम्राज्य-विषयक विचार उत्पन्न कराने के अपने उद्देश को कभी नहीं छोड़ा। उस उद्देश को साधने के लिये उन्हें कई बार असफलता भी मिली, तो भी अन्त में उनके लगाये हुए वृक्ष में, उन्हीं की इच्छा के अनुसार, मीठे फल भी लगे। साथ ही उन्होंने जिस भवन का निर्माण किया था, वह इतना दृढ था कि बहुत काल तक वह वैसा ही बना रहा, और यद्यपि विदेशियों के आक्रमणों के कारण मुगल बादशाहों के बलवान राज्य भी नष्ट हो गये, तथापि शिवाजी के स्थापित किये हुए साम्राज्य ने विदेशियों को अपने बल का परिचय भली भांति करा दिया।

तीन शताब्दियों तक परिश्रम करके, तैयार की हुई जमीन में स्वराज्य-रूपी वृक्ष के बीज बोने का वर्णन समाप्त करने के पहले, हमें यहां पर एक और महत्वपूर्ण बात की चर्चा करनी आवश्यक है। शिवाजी में जैसी चमत्कारपूर्ण आकर्षण-शक्ति थी, वैसी तो मानव जाति के सच्चे पुरस्कर्ताओं में ही देख पड़ती है, केवल लुटेरों या धर्मान्धों में वह कभी दिखाई नहीं दे सकती। जिन लोगों को भावी सुख की आशा और इच्छा थी, उनमें सब महाराज शिवाजी ने अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे और जिन जातियों पर देश का सम्पूर्ण हिताहित निर्भर रहता है, उन्हीं प्रधान जातियों के नेताओं को उन्होंने अपने मन्त्रि-मंडल के लिये चुना था। शिवाजी के दर्शन करके

प्रकार का था कि सभी लोगों को अपने देश की रक्षा के लिये एक रूप से प्रयत्न करना आवश्यक था। इसी से, जिन लोगों ने उस एकता में बाधाएं डालीं उन्हें—हिन्दू-मुसलमान, शत्रु-मित्र, देशी और विदेशी आदि भावों को अपने मन में न ला कर—शिवाजी ने अच्छी तरह से दंड दिया।

यदि वास्तव में देखा जावे तो हिन्दुओं की पारस्परिक फूट ही के कारण भारत में विदेशियों का प्रवेश हुआ है। हिन्दुओं की तो व्यवस्थित रूप, या एकता में, कार्य करने की आदत ही नहीं है। विशिष्ट नियमों के अनुसार शान्तिपूर्वक कार्य करने, नेता के आज्ञानुसार चलने अथवा अपनी भूल मान लेने का उपदेश उन्हें कभी नहीं भाता। उक्त दुर्गुण उनमें कूट कूट कर भरे हुए थे, अतएव यदि शत्रुओं की व्यवस्थित सेना के आगे उनकी दाल नहीं गली, तो इसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है। इसी से महाराज शिवाजी, हिन्दुओं के उक्त दोषों को नष्ट करके, छोटी छोटी बातों से लेकर बड़े बड़े राजनैतिक कार्यों में भी, समाज के हित में अपना हित, समाज की उन्नति में अपनी उन्नति, और समाज के अपमान ही में अपना अपमान, मानने के भावों की जागृति करने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु, घाटगे, मोरे, घोरपडे आदि मराठे सरदारों को तो अपने स्वार्थ के आगे अन्य सारी बातें तुच्छ सी जान पड़ती थीं। उन्हें समाज-हित के विषय में कोई चिन्ता नहीं थी। अत उन लोगों को युक्ति प्रयुक्तियों के बल पर बलहीन किये बिना शिवाजी का उद्देश पूर्ण नहीं हो सकता था। इसलिये—जब उन्होंने उन लोगों का पराभव किया, तभी अन्य सब मराठे सरदार, समाज-हित के प्रीत्यर्थ

वस्तु पर धावा करने के पूर्व पीछे की ओर हट जाता है, उसी प्रकार, उन्होंने पीछे हटकर फिर से अधिक क्रोधित हो औरंगज़ेब पर चढाई कर दी, और उसका पूर्ण पराभव करके दक्षिण को जीत लेने की उसकी सारी आशाएँ नष्ट कर डाली। जिस प्रकार शिवाजी की वीरता और प्रत्येक मनुष्य पर अपना प्रभाव डालने की शैली अनूठी थी, उसी प्रकार उनका आत्मसंयम भी अपूर्व था। उस समय की शिक्षितता और राजाओं की क्रूरता को देखते तो शिवाजी में इन्द्रियदमन की शक्ति होना बड़े ही आश्चर्य की बात है। यद्यपि युद्ध की सुविधा और द्रव्य के लालच से उनकी सेना ने अनेक निन्दनीय कार्य भी किये थे, तथापि उन्होंने गाय, अबला और गरीब प्रजा को कभी कष्ट नहीं दिये। स्त्रियों का तो वे बड़ा आदर करते थे, और यदि किसी युद्ध में कोई स्त्री उनके पञ्जे में फँस जाती तो वे उसे आदर के साथ उसके पति के पास पहुंचा देते थे। शिवाजी ने, जीते हुए प्रदेश, कभी किसी को जागीर में नहीं दिये। उनका विश्वास था कि यदि लोगों को जागीरें दी जायगी तो वे जागीरदार, सारे राज्य को अपने अधिकार में लेकर, बलवान् हो जायँगे, और फिर से आपस में लड़ाई झगड़े मचेंगे, तथा स्वराज्य की नींव निर्बल पड़ जायगी। उनके मन्त्रियों ने समय समय पर उक्त प्रकार की जागीरें देने के लिये उन्हें सूचित भी किया, पर, शिवाजी ने उस कथन की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अब यदि शिवाजी के उक्त आदर्श को उनके उत्तराधिकारी भी अपने सामने रखते तो जिस राष्ट्र रूपी भवन की नींव उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से जमाई थी, उसी

ही एक साधारण मनुष्य भी स्वदेशप्रेम से युक्त हो जाया करता था। मावले और हेटकरी लोग, केवल लूटने ही के लिये, शिवाजी के प्राणों के लिए अपने प्राण दे देने को तैयार नहीं हो गये थे और कुछ अवसरों पर तो शिवाजी ने मुसलमानों के द्वारा भी अपना-कार्य करा लिया था। तानाजी और सूर्याजी मालुसरे, बाजी फसलकर, नेताजी पालकर आदि मावले, बाजी देशपांडे, बालाजी आवजी आदि प्रभु मोरोपंत, आबाजी सोनदेव, अण्णाजी दत्तो, रघुनाथ नारायण-जनार्दनपंत हनमंते आदि ब्राह्मण, प्रतापराव गूजर, हंबीरराव मोहिते, संताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव और परसोजी भोंसले, उदाजी पवार, खंडेराव दाभाडे के पूर्वज आदि मराठे शिवाजी की सेना में थे। उनमें से किसी ने भी शिवाजी के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था। यह उदाहरण किस बात का दिग्दर्शक है? क्या शिवाजी के अपूर्व गुण और शक्ति को ही उसका मुख्य कारण नहीं कह सकते? जब शिवाजी दिल्ली में मुगलों के कारागार में कैद हो गये थे, तब भी उक्त सरदार अपने कर्त्तव्य का स्मरण करके अपने नियत कार्य भली भाँति करते रहे, और जब महाराज शिवाजी कारागार से मुक्त होकर अपने देश को लौट आये, तब भी उन्होंने उनके प्रभाव को स्थापित करने में सहायता दी। और जब, शिवाजी की मृत्यु के अनन्तर, मुगल सेना ने दुष्ट और दुराचारी पुत्र संभाजी को मार कर रायगढ़ में शाहू को कैद कर लिया तब भी उक्त सरदार और उनके उत्तराधिकारी, मुगलों के साथ, बड़ी धीरता और धैर्य से युद्ध करते रहे। उस समय यद्यपि उन्हें दक्षिण में, पीछे की ओर, हटना पड़ा, तथापि जैसे सिंह अपनी भक्ष्य

शत्रु पर धावा करने के पूर्व पीछे की ओर हट जाता है, उसी प्रकार, उन्होंने पीछे हटकर फिर से अधिक क्रोधित हो औरंगज़ेब पर, चढ़ाई कर दी, और उसका पूर्ण पराभव करके दक्षिण को जीत लेने की उसकी सारी आशाएँ नष्ट कर डालीं। जिस प्रकार शिवाजी की वीरता और प्रत्येक मनुष्य पर अपना प्रभाव डालने की शैली अनूठी थी, उसी प्रकार उनका आत्मसंयम भी अपूर्व था। उस समय की शिथिलता और राजाओं की क्रूरता को देखते तो शिवाजी में इन्द्रियदमन की शक्ति होना बड़े ही आश्चर्य की बात है। यद्यपि युद्ध की सुविधा और द्रव्य के लालच से उनकी सेना ने अनेक निंदनीय कार्य भी किये थे, तथापि उन्होंने गाय, अबला और गरीब प्रजा को कभी कष्ट नहीं दिये। स्त्रियों का तो वे बड़ा आदर करते थे और यदि किसी युद्ध में कोई स्त्री उनके पञ्जे में फँस जाती तो वे उसे आदर के साथ उसके पति के पास पहुँचा देते थे। शिवाजी ने, जीते हुए प्रदेश, कभी किसी को जागीर में नहीं दिये। उनका विश्वास था कि यदि लोगों को जागीरें दी जायँगी तो वे जागीरदार, सारे राज्य को अपने अधिकार में लेकर, बलवान् हो जायँगे, और फिर से आपस में लड़ाई झगड़े मचेंगे, तथा स्वराज्य की नींव निर्बल पड़ जायगी। उनके मन्त्रियों ने समय समय पर उक्त प्रकार की जागीरें देने के लिये उन्हें सूचित भी किया, पर, शिवाजी ने उस कथन की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अतः यदि शिवाजी के उक्त आदर्श को उनके उत्तराधिकारी भी अपने सामने रखते तो जिस राष्ट्र रूपी भवन की नींव उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से जमाई थी, उसी

का प्रत्येक भाग अलग अलग न हो जाता; और वह भवन इतनी जल्दी कदापि नष्ट नहीं होता।"

स्वार्थत्याग के साथ साथ जागृत धर्माभिमान, अपने आरंभ किये हुए महान् कार्य में ईश्वर के सहायक होने का पूर्ण विश्वास और इसके साथ ही अपूर्व धैर्य तथा साहस, मराठों को भ्रातृप्रेम से जकड़ कर उन्हें विजयी दिलाने की अपूर्व शक्ति, उस समय की आवश्यकताओं को शीघ्र ही मालूम कर लेने की दूरदर्शितापूर्ण बुद्धि, अनेक संकटों के उपस्थित होने पर भी एक बार हाथ में लिये हुए कार्य को पूर्ण करने की दृढ़ता, यूरोप अथवा भारतवर्ष के किसी भी इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष में न दिखाई देनेवाली प्रसंगावधान और योजनाशक्ति, सच्चा स्वदेशाभिमान और दयापूर्ण न्याय करने की इच्छा आदि गुण छत्रपति शिवाजी में मौजूद थे; और इसी कारण वे एक ऐसे राज्य को स्थापित कर सके, जिसने उनके सभी हेतु पूर्ण करके दिगन्त-व्यापिनी कीर्ति प्राप्त की; और भारत के इतिहास में मराठों का नाम अजरामर कर दिया। यहां तक हमने मराठा-साम्राज्य के संस्थापक के स्वभाव का संक्षेप में वर्णन किया। इससे उनके स्वभाव का हमको बहुत कुछ ज्ञान हो गया। अब इस वीर नायक का चरित्र भली भांति हमारी समझ में आ जायगा, और उसके किये हुए अनेक कार्यों के स्वरूप का ठीक ठीक निर्णय करने में हमें किसी बात की असुविधा नहीं होगी।

चतुर्थ परिच्छेद ।

—○○○—

बीज कैसे अंकुरित हुआ ?

पिछले परिच्छेद से, हमारे पाठकों को, जिस वीरवर ने मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके महाराष्ट्र साम्राज्य स्थापित किया, उस अद्वितीय पुरुष के अनेक अपूर्व गुणों का, ज्ञान हो गया होगा। यदि कोई कहे कि शिवाजी महाराज का यदि उदय न हुआ होता तो 'मराठाशाही' का प्रादुर्भाव ही न होता, तो उसका उक्त कथन सर्वथा भ्रम-पूर्ण ही होगा। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि शिवाजी को चारों ओर से सहायता न मिलती, तो वे अकेले महाराष्ट्र को परतन्त्रता से मुक्त नहीं कर सकते थे। अर्थात् यदि जमीन ही अच्छी न होती तो उनका बोया हुआ बीज सूख जाता या सड़ जाता। मुगल-शासन का कष्टप्रद अनुभव प्राप्त करके भी यदि उस समय के लोग शिवाजी को सहायता करने के लिये आनन्दपूर्वक तैयार न हो जाते, तो उनके समान बड़े बुद्धिमान पुरुष के प्रयत्न भी निष्फल हो जाते। शिवाजी के चित्ताकर्षक चरित्र ने देशी और विदेशी इतिहास-लेखकों को इतना अंधा बना दिया है कि, उन्हें शिवाजी के सहायकों का महत्व बिलकुल ही मालूम नहीं होता। निस्सन्देह शिवाजी में, उनके समकालीन पुरुषों की बुद्धि, शक्ति और महत्वा-

कांक्षा विशेष रूप से विकसित हुई थी, परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई विशेषता उनमें नहीं थी। हां, उक्त इतिहास-लेखक इस बात का बिलकुल ही विचार नहीं करते कि यदि शिवाजी के बोये हुए बीज को उस समय के धर्मवीर पुरुष सिंचित कर के उसकी रक्षा करते, तो महाराष्ट्र राज्यवृक्ष की उत्पत्ति कैसे हो सकती थी? अब जहां बड़े बड़े इतिहास-लेखकों को भी उस समय के लोगों की शिवाजी को दी हुई सहायता का महत्व मालूम नहीं होता, वहां यदि हमारे पाठकों को उसका महत्व मालूम न हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अस्तु। शिवाजी के चरित्र और उनके समय की परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए हम, इस परिच्छेद में, उनके समय के प्रसिद्ध प्रसिद्ध शूर योद्धाओं, राजनीतिज्ञों तथा धर्मोपदेशकों के संक्षिप्त चरित्र लिखते हैं। यद्यपि उन पुरुषों के चरित्र लिखने के लिये यथायोग्य सामग्री प्राप्त नहीं है, तथापि जो कुछ सामग्री इस समय प्रस्तुत है, उसी के आधार पर हमें उनके चरित्रों पर यथार्थ प्रकाश डालना आवश्यक है। उन लोगों के कार्यों से ही शिवाजी के चरित्र का अत्यंत महत्वपूर्ण स्वरूप प्राप्त हुआ था, और अब भी, हमारा विश्वास है कि, हम उन लोगों को कभी भूल नहीं सकते।

हमें जिन पुरुषों के चरित्रों पर प्रकाश डालना है उन सब में जीजाबाई का चरित्र सर्वश्रेष्ठ है। जीजाबाई का जन्म महाराष्ट्र के प्राचीनतर प्रसिद्ध कुल-यादववंश-में हुआ था। उस समय उनके पिता एक बड़े प्रतिष्ठित सरदार थे। जीजाबाई के विवाह की कथा भी बड़ी आश्चर्यजनक है।

उस कथा से भी उस समय के लोगों का स्वाभिमान और दृढ़ स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है। एक बार मालोजी के पुत्र शहाजी और जीजाबाई बड़े आनन्द से खेल रहे थे। उनके उस खेल को बड़े आश्चर्यभाव से देख कर जीजाबाई के पिता जाधवराव ने मालोजी से कहा —"देखो तो, यह जोड़ा कैसा अच्छा देख पड़ता है?" तब मालोजी ने उस बात को ध्यान में रख कर अपने पुत्र का विवाह जीजाबाई के साथ करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु जाधवराव को मालोजीराव जैसे नीची श्रेणी के मराठे के पुत्र के साथ अपनी कन्या का विवाह करने की बात अच्छी नहीं लगी, और उन्होंने उस प्रस्ताव का निषेध किया। मालोजी उस अपमान को नहीं सह सके और वे जाधवराव की शक्ति का मात्र विचार न करके, उनके घमंड को हरण करने का उद्योग करने लगे, अन्त में जाधवराव को अपना वचन पूर्ण करना ही पड़ा। अस्तु केवल इसी बात से उनके धैर्य और स्वाभिमान का पता चल सकता है। जिस प्रकार जाधवराव अपने को देवगिरि के यादव राजघराने का बतलाते थे, उसी प्रकार शहाजी भी अपने को उदयपुर के राजपूत राजकुल का मानते थे। जीजाबाई का जन्म एक बड़े कुल में हुआ था, और विवाह भी एक प्रतिष्ठित कुल में ही हुआ। परन्तु उन का बड़प्पन केवल उक्त बातों पर नहीं था, वरन् उनके आत्मिक गुणों के ही कारण वे अद्वितीय कहलाईं। और यदि किसी साधारण कुल में ही उनका जन्म होता, तो भी उनके अपूर्व आत्मिक गुण कदापि गुप्त नहीं रह सकते थे। जाधवराव मालोजीराव के किये हुए अपमान को कभी नहीं

भूले; इसीसे वे सदासर्वदा भोंसलों से द्वेष किया करते थे। जब अहमदनगर और दौलताबाद के राजदरबारों की सारी शक्तियां शहाजी के अधीन हो गईं, तब तो जाधवराव के हृदय की द्वेषाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो उठी, और उन्होंने मुगलों से मित्रता करके शहाजी को अहमदनगर की रक्षा न करने के लिये वाध्य किया। उस समय शहाजी ने नैराश हो कर, अपनी स्त्री जीजाबाई को, उसके पिता के कारागार में अकेली ही छोड़ कर, आप बीजापुर की ओर चल दिये, पर उस दशा में भी जाधवराव उनका पीछा करते ही रहे। उस समय जीजाबाई पर तो एक महान् संकट ही उपस्थित हो गया था। उन्हें किसी का भी सहारा नहीं था। परन्तु वे अपने धैर्य के बल पर ही अपना समय बिताती रहीं। उस दशा में उन्हें परतंत्रता से होनेवाले अपमान का अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ। उसी समय शिवनेर के किले में, उनके पवित्र कोख से, महाराज शिवाजी का जन्म हुआ। अतः वे बाल शिवाजी के कारण अपने सारे कष्टों को भूल गईं। जिन देवी भवानी ने, संकट के समय, उनकी और उनके छोटे बालक की रक्षा की, उन्हीं देवी भवानी पर पूर्ण विश्वास रख कर उन्होंने शिवाजी का पालन किया। कुछ समय के अनन्तर वे, शहाजी की आज्ञा के अनुसार, पूना में रहने लगीं। उस समय दादोजी कोंडदेव शहाजी की पूना प्रांत की जागीर का प्रबंध करते थे। शिवाजी के जीवन का बहुत [illegible] के आस-पास के पहाड़ी प्रदेश में ही [illegible] बल-वान्, सहनशील और धै[illegible] [illegible] जीजाबाई ने उन्हें, उस [illegible] पुत्र

उन्हें शिक्षा भी दी। शिवाजी का अपनी माता पर अत्यंत प्रेम था। उनके पिता शहाजी सर्वदा बीजापुर और तंजौर की ही ओर रहा करते थे, जिससे अनायास ही उन्हें अपनी माता के सुखद सहवास का लाभ होता था। वे प्रत्येक कार्य अपनी माता के परामर्श के अनुसार ही करते थे। जब माताजी किसी कार्य के लिए उनका अभिनन्दन करतीं, तभी वे अपने परिश्रम को सफल मानते थे, और नई चढ़ाइया करने के लिये उत्साहित हो जाते थे। जीजाबाई के मधुर उपदेशामृत पान के ही कारण वे अधिक धार्मिक और कर्मण्य बन गये थे। वे उन्हें महाभारत और रामायण की युद्ध कथायें सुनाया करतीं थीं। शहाजी की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने सती होने की इच्छा प्रकट की, पर शिवाजी ने उनकी बड़ी प्रार्थना कर के उन्हें उस कार्य से विरत किया। जब शिवाजी दिल्ली को गये, तब भी उन्होंने सारा राज्यकार्य उन्हीं को सौंपा था। वे जब किसी कठिन कार्य को पूर्ण करने के लिये चलते थे, तब पहले अपनी माता से आशीर्वाद मांगते थे; और वे भी "परमेश्वर तुम्हारे सहायक हैं और तुम्हें अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी" यह कह कर उन्हें धैर्य दिलातीं, और कार्य को पूर्ण करने के लिये विदा करती थीं। यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि माता अपने बालक के कोमल अन्तःकरण पर जैसा प्रभाव डालती है, वैसा ही वह भविष्य में बन जाता है। माता की सुशिक्षा ही के कारण नपोलियन आदि नररत्न इस पृथ्वी पर प्रसिद्ध हो गये हैं। और वास्तव में महाराज शिवाजी के उदय का भी मुख्य कारण उनकी माता ही थीं। जीजाबाई के ही द्वारा उन्हें अनेक अलौकिक गुण प्राप्त हुए थे और 'जीजाबाई

बाग भी दादोजी के समय में ही तैयार किये गये थे। उनके देखने से दादोजी की बुद्धिमत्ता का भली भांति परिचय हो जाता है। दादोजी का शासन भी बड़ा कड़ा था। एक बार अपने स्वामी शहाजी के बाग से एक आम लेने की उन्हें इच्छा हुई। परन्तु तुरन्त ही उन्होंने मालिक की आज्ञा के बिना आम तोड़ने का विचार रोक लिया, और इस पाप के प्रायश्चित्त में पास के लोगों से अपना दाहना हाथ काट डालने को आज्ञा दी, पर उन लोगों ने उनका कहना नहीं माना, और उन्होंने दादोजी को समझा-बुझा कर उनके हाथ की रक्षा की। परन्तु उन्होंने उस पापी हाथ को, सदा लोगों के सामने रखने के लिए, अपने अँगरखे में दाहिनी बांह का रखना ही छोड़ दिया। आगे चलकर शहाजी के अनुरोध से उन्हें इस भ्रम को त्याग देना पड़ा। दादोजी की केवल यही आन्तरिक इच्छा थी कि शहाजी और मालोजी की तरह शिवाजी भी एक बलवान् सरदार बनें। उस समय उनके मन में, शिवाजी की तरह, सभी मराठे सरदारों में एकता करके, स्वदेश को मुगलों के कष्ट से छुड़ाने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। परन्तु जब उन्हें उक्त कार्य को पूर्ण करनेवाली, शिवाजी की आन्तरिक शक्ति का परिचय हो गया, तब उन्होंने अपने आग्रह को छोड़ दिया, और अन्त में यह आशीर्वाद देकर कि "तुम्हारे आरंभ किये हुए सत्कार्य में तुम्हें सफलता प्राप्त हो," उन्होंने परलोक का मार्ग लिया। ज़मीन के कर और राज्य-प्रबंध के कार्य में तो शिवाजी ने दादोजी कोंडदेव की प्रथा का ही अनुकरण किया था। अतः यदि वास्तव में देखा जावे तो उच्छृङ्खल तरुण शिवाजी को यदि दादोजी के

न हुआ, म गदर्शन न मिलता, तो उनके द्वारा स्वराज्य-वृक्ष कदापि न लगाया जा सकता, और न वह चिरस्थायी ही होता।

तोरणा किला जीत कर और रायगढ़ की किलेबन्दी करके महाराष्ट्र-राज्यरूपी भवन की नींव का पत्थर अभी शिवाजी ने रक्खा ही था, कि इतने म दादोजी का शरीरान्त हो गया। दादाजी ने लगभग १० वर्ष तक शहाजी की जागीर का प्रबंध किया। इस अवधि में उनके सहायक लोग भी अपने अपने कार्यों में चतुर हो गये थे। इधर ज्यों ज्यों स्वराज्य बढ़ता गया, त्यों त्यों शिवाजी को उनसे बड़ी सहायता मिली। आनाजी मानदेव, रघुनाथ बल्लाल, शामराजपत, बड़े पिंगले (मोरोपंत पिंगले के पिता) आदि लोगों को राज्यप्रबंध और सैनिक शिक्षा दादोजी के द्वारा प्राप्त हुई थी। वे लोग शिवाजी को सदा उत्साहित किया करते थे। इनके अतिरिक्त अण्णाजी दत्तो, निराजी पंडित, रघोजी सोमनाथ, दत्ताजी गोपीनाथ, रघुनाथपंत और गंगाजी मंगाजी आदि लोगों से भी, स्वराज्य स्थापित करने में शिवाजी को बड़ी सहायता मिली थी। महाराष्ट्र में, स्वदेश को यवनों के कष्टों से छुड़ाने के लिए, जो नई हलचल मच गई थी, उसके लिये प्रत्येक युक्ति या उपाय यही लोग सुझाते थे। उनके बतलाये हुए कार्यों को पूर्ण करने के लिये शिवाजी के बलवान् और धैर्यशाली बालमित्र येसाजी कंक, तानाजी मालुसरे, बाजी फसलकर आदि मावले वीर तैयार हो जाते थे। उन मावले वीरों को सहायता देने के लिये फिरंगोजी नरसाला, सभाजी, कावजी, माणकोजी दहातुंडे, गोमाजी नाइक, मेमाजी पालकर, सूर्याजी मालुसरे, हिरोजी फर्जंद, देवजी गाढ़वे आदि मावले भी सदा सर्वदा तैयार रहा

करते थे। उनके अतिरिक्त महाड के मुरार बाजी प्रभु, हिर
मावल के बाजी प्रभु और हवसान के बालाजी आवजी चिटनी
आदि मुख्य मुख्य प्रभु जाति के वीर भी उन लोगों में सम्मि
लित हो गये थे। मुरार प्रभु और बाजी प्रभु तो पहले मुग़
के पास नौकर थे। परन्तु शिवाजी ने उनके शौर्य को देख
उन्हें अपनी सेना में रख लिया था। शिवाजी में ऐसे अपू
गुण थे, जिनके कारण उनके शत्रुओं को भी, उनसे मिल
करके, उनकी सेवा करने की इच्छा होती थी। शिवाजी
पहले तो मुख्यतः ब्राह्मण, प्रभु और मावलों से ही सहाय
मिली थी। बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में नौक
करनेवाले मुख्य मुख्य मराठे सरदारों ने उस समय उ
बिलकुल ही सहायता नहीं दी। केवल इतना ही नहीं, ब
थे तो उनको हराने का भी यथाशक्ति प्रयत्न करते रहे। त
उनके उक्त कार्यों के कारण, बेवश होकर, शिवाजी को उन
दंड देना पडा। उन लोगों में बाजी मोहिते नामक शहाज
के एक सम्बधी थे। परन्तु शिवाजी को, सूपे को जीत लेने
समय, उसे भी कैद करके कर्नाटक की ओर भेज देना पडा।

मुधोल के बाजी घोरपडे ने भी बडी नीचता की। उसने
बीजापुर-दरबार के उकसा देने से, शहाजी को पकडने
लिये एक गुप्त षड्यन्त्र रचा। पर शिवाजी ने उसे उस दु
कर्म का अच्छा बदला चुकाया। जावली के मोरे ने भी शिवाज
को मार डालने के लिये बीजापुर-दरबार के भेजे हुए एक
ब्राह्मण को अपने प्रदेश में आश्रय दिया था, पर जब शिवाजी को
उक्त समाचार मालुम हो गया, तब उन्हें अपनी रक्षा के लिये
मोरे का नाश करना पडा। यद्यपि मोरे का नाश करने के लिये

न्हें बुरे उपाय को स्वीकार करना पड़ा था, तथापि उसके लिये केवल वे ही उत्तरदाता नहीं कहे जा सकते। नीच मनुष्य को दण्ड देने के लिये कभी कभी नीच मार्गों का भी अवलम्बन करना पड़ता है। काटे से ही काटा निकालना पड़ता है। वाडी के सावंत, कोकन के दलवी और शृंगारपुर के शिरके ने शिवाजी के महान कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित किये थे; इससे उन्हें, उनको भी घर दबाकर, अपने अधीन कर लेना पड़ा था। फलटन के निंबालकर, म्हसवड के माने, मालेराव घाटगे आदि बड़े बड़े मराठे लोग भी स्वदेश का उद्धार करनेवाले शिवाजी प्रभृति नये दल के साथ, बीजापुर की ओर से युद्ध करते थे।

इससे ज्ञात होता है कि शिवाजी की उस नई राष्ट्रीय हलचल का सारा भार केवल मध्यम श्रेणी के लोगों पर ही था। पुराने मराठे सरदारों ने पहले उस काम में बिलकुल सहायता नहीं दी, पर ज्यो ही शिवाजी को अपने कार्य में सफलता मिलने लगी, त्यांही वे लोग भी उनके पक्ष में सम्मिलित हो गये। प्रतापराव गूजर, हंबीरराव मोहिते, बाजी निंबालकर, संभाजी मोरे, सूर्यराव काकडे, संताजी घोरपडे, धनाजी जाधव, खंडेराव दाभाडे परसोजी भोसले, नेमाजी शिंदे आदि लोग, शिवाजी के अंतिम समय में बहुत प्रसिद्ध हुए। जब उस राष्ट्रीय कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये उच्च बड़े बड़े लोग तैयार हो गये तब छोटे छोटे लोग भी उनके लिये अपना आत्मसमर्पण करने को आगे बढ़े। पर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जिन लोगों को हम मूढ समझते हैं, उन्हीं लोगों ने सब से पहले

महाराष्ट्र को स्वतंत्र बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया; और जब उनके उस कार्य में सफलता प्राप्त होने के चिन्ह देख पड़े, तब समाज के नेता कहलानेवाले लोग भी उनमें सम्मिलित हो गये।

कुछ मुसलमान लोगों पर भी उस नई हलचल का अच्छा प्रभाव पड़ा था। दर्यासारंग नामक एक मुसलमान ही शिवाजी की जल-सेना का मुख्य सरदार था। उसने मुगलों के सिद्दी जलसेनाध्यक्ष को खूब ही छकाया। शिवाजी की पठान सेना का सेनापतित्व भी इब्राहीमखाँ नामक एक मुसलमान सरदार के ही हाथ में था। शिवाजी बीजापुर और गोलकुंडा के दरबारों से निकाले हुए मुगल सिपाहियों को भी अपने पास नौकर रख लेते थे। उन्होंने उन सिपाहियों की एक स्वतंत्र पलटन बनाई थी।

शिवाजी के यहाँ कितने ब्राह्मण, प्रभू, मराठे और मावले थे, तथा एक दूसरे के मुकाबले उनका क्या परिमाण था, आदि बातों का वर्णन ग्रांट डफ साहब ने अपने इतिहास में दिया है। उनका कथन है कि शिवाजी की सेना में मुख्यतः २० ब्राह्मण, ४ प्रभू और १२ मावले तथा मराठे, सरदार थे। मुगलों और बीजापुर के दरबारों में भी १४ मराठे सरदार थे। ब्राह्मण सरदारों में से, पंडितराव और न्यायाधीश नामक दो अधिकारियों के अतिरिक्त शेष सभी को, राज्य-प्रबंध के अतिरिक्त, यथासमय सैनिक कार्य भी करने पड़ते थे। उन लोगों ने ये कार्य अच्छी तरह से किये थे। यद्यपि ग्रांट डफ की संख्या मराठी बखरों में लिखी हुई संख्या से नहीं मिलती, तथापि विभिन्न जातियों के उपर्युक्त परिमाण में कोई विशे

अन्तर नहीं जान पड़ता है। चिटनीस की बखर में शिवाजी के यहां ५० ब्राह्मण और प्रभु सरदारों तथा ४० मराठे सरदारों की चर्चा की गई है। पर बखर के अंत में उन्होंने ४५ ब्राह्मणों और ७५ मावले और मराठों के नाम लिखे हैं, जिससे ज्ञात होता है कि शिवाजी के समय में सभी जातियों के कुल १०० मनुष्य अधिक प्रसिद्ध थे और मुगलों को हराकर रायगढ़ में स्थापित किये हुए हिन्दू साम्राज्य के तो वे ही सच्चे आधार थे। इस छोटे से इतिहास में उन सभी लोगों के चरित्र लिखना बिलकुल ही असम्भव है। यदि हम उनके चरित्रों का दिग्दर्शन मात्र भी करावें, तो भी यह ग्रंथ विस्तृत हो जायगा। अत: जिन लोगों ने अपने नाम प्रत्येक महाराष्ट्रीय के हृदय पटल पर सदा के लिये अंकित कर दिये हैं, जिनकी कीर्ति का गान महाराष्ट्रीय कवियों ने किया है, और जिनके अलौकिक कार्यों का वर्णन बखरकारों ने अपनी बखरों में लिख कर उनके नाम चिरस्थायी बना दिये हैं, उन्हीं चुने हुए वीर पुरुषों के चरित्रों का हम यहां पर वर्णन करेंगे। इससे हमारे कथन का यह उद्देश नहीं है कि अन्य लोगों का महत्व कम है। नहीं, उन लोगों ने भी अपनी योग्यता के अनुसार महत्वपूर्ण कार्य करके स्वदेश के उद्धार में भाग लिया था। उस समय ब्राह्मणों में हनुमंते बड़े प्रसिद्ध थे। जिस प्रकार दादोजी कोंडदेव को शाहाजी का पूना की जागीर का प्रबंध सौंपा गया था, उसी प्रकार कर्नाटक प्रांत के प्रबन्ध का काम नारोपंत हनुमंत को दिया गया था। नारोपंत की तरह उनके दो पुत्र रघुनाथपंत और जनार्दनपंत भी बड़े बुद्धिमान थे। शिवाजी के भाई व्यंकोजी को, तंजोर प्रांत में, एक नया राज्य

स्थापित करने में विशेषतः रघुनाथपंत ने ही सहायता की थी। परन्तु जब उनमें और व्यंकोजी में अनबन हो गई, तब वे जिंजी दुर्ग को लेकर अर्काट, वेलूर और मैसोर प्रांत के थोड़े से प्रदेश का ही प्रबंध करने लगे। उन्ही के अनुरोध से शिवाजी ने कर्नाटक प्रदेश पर चढ़ाई की थी और उस चढ़ाई के समय रघुनाथपंत ने अपने हाथ का सारा प्रदेश शिवाजी को सौंप दिया था। जब औरंगजेब ने संभाजी को कैद करके मराठों के सभी किलों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया; तब मराठों को दक्षिण की ओर भाग जाना पड़ा, और उस संकट के अवसर पर उन्हें दक्षिण के उक्त प्रदेश के ही कारण, बड़ी सहायता मिली थी। उस समय मराठे सरदार कुछ समय तक तो जिंजी की मजबूत किलेबन्दी के आश्रय में ही रहे, और वहीं पर औरंगजेब से बदला लेने की तैयारी भी करते रहे। इसके बाद उन्होंने फिर से स्वदेश को लौट कर औरंगजेब को हराया। रघुनाथपंत के भाई जनार्दनपंत तो शिवाजी की ही सेना में थे और वे अनेक युद्धों में मुगलों के साथ लड़े थे। इस प्रकार वे पिता-पुत्र महाराज शिवाजी के बड़े सहायक हुए थे। उनके सदृश वीर और राजनीतिज्ञ पुरुष जगत् में विरले ही होंगे।

मोरोपंत पिंगले तो शिवाजी के दाहिने हाथ ही थे। उन्होंने उत्तरीय कोंकन और बागलान में शिवाजी के शासन को स्थापित किया था। उस महत्त्वपूर्ण कार्य के बदले शिवाजी ने उन्हें अपना पेशवा बनाया था। वे दुर्ग बनाने और सेना को तैयार करने के कार्य में बड़े चतुर थे। मोरोपंत के पिता कर्नाटक में शिवाजी के पास नौकर थे। उन्होंने कुछ दिनों तक

अपने पिताजी के पास रहकर फिर कर्नाटक प्रदेश को छोड़ दिया था और मावदेश में आकर सन् १६५३ में शिवाजी की सेना में नौकरी कर ली थी। उस समय उनकी अवस्था बहुत कम थी। मोरोपंत के पहले शामराजपंत पेशवा थे। जब वे कोकन प्रदेश के सिद्दी और सावंत की बगावत को नहीं मिटा सके, तब शिवाजी ने उस कार्य को करने के लिये मोरोपंत को ही भेजा था। मोरोपंत ने बड़ी वीरता से उस कार्य को पूरा किया। उस समय के प्राय सभी युद्धों में मोरोपंत ने भाग लिया था। शिवाजी के अनन्तर वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। जब बालाजी विश्वनाथ को शाहू महाराज की ओर से सन् १७१४ में पेशवा का पद मिला, तब तक वह कार्य मोरोपंत के ही वंशजों के हाथ में था। राजनैतिक बातों में मोरोपंत ही शिवाजी के मुख्य परामर्शदाता थे और उस समय के प्रसिद्ध सेनापति भी वे ही थे। उनके सदृश बुद्धिमान और सच्चा राजभक्त कम से कम उस समय के लोगों में तो दूसरा कोई भी नहीं था।

आबाजी सोनदेव भी हनुमंते और पिंगले की ही श्रेणी के थे। उन्होंने केवल अपने ही प्रदेश का प्रबंध नहीं किया, वरन् अन्य प्रदेशों पर चढ़ाइयां भी की थीं। उन्होंने सब से पहले कल्याण प्रदेश पर चढ़ाई की। मुगल सेना उस प्रदेश को बारम्बार जीत लेती थी, पर आबाजी सोनदेव के कोंकन सूबा का तो वही सैनिक स्थान था। मोरोपंत की तरह वे भी दुर्ग-निर्माण में बड़े निपुण थे। जब शिवाजी दिल्ली को गये, तब, उनके पीछे, राज्यशासन के कार्य में जीजाबाई को योग्य परामर्श देने के लिए आबाजी सोनदेव और मोरोपंत

ही नियत किये गये थे। पहले तो ये रामजी मुजूमदार के पद पर थे; पर शिवाजी के राज्याभिषिक्त हो जाने पर, उनके पुत्र अष्टप्रधानों में अमात्य बनाये गये थे।

राघोबल्लाल अत्रे ने भी सिद्दियों के साथ युद्ध करने में बड़ी कीर्ति प्राप्त की, और चन्द्रराव मोरे का पराभव करने में वे ही अगुआ बने थे। शिवाजी ने उनकी वीरता देखकर उन्हें अपनी पठान सेना का सेनापति बनाया था।

उस समय अण्पाजी दत्तो भी बड़े प्रसिद्ध थे। वे पहले तो पंत सचिव और फिर सुरनीस बनाये गये थे। पन्हाला और रायगढ़ के जीतने में उन्होंने बड़े परिश्रम किये थे; और कोंकन की लड़ाइयों में योग दिया था। उन्होंने कर्नाटक पर पहिली चढ़ाई करके हुबली-नगर को लूटा था। कोंकन के उत्तरीय प्रदेश का प्रबंध तो आबाजी सोनदेव और मोरोपंत को सौंपा गया था, तथा तल-कोंकन की व्यवस्था अण्पाजी दत्तो के हाथ में थी। शिवाजी के दिल्ली चले जाने पर उन्होंने जिन लोगों को अपने राज्य की रक्षा करने का कार्य सौंपा था, उन्हीं में अण्पाजी दत्तो भी थे।

दत्तोजी गोपीनाथ मंत्री थे; और वाकनीस का कार्य भी उन्हीं के अधिकार में था। शिवाजी के घरेलू कार्यों का प्रबंध भी वे ही किया करते थे। जिस समय शिवाजी ने उनको अपना वकील बनाकर अफजलखां के पास भेजा था, उस समय उन्होंने बड़े महत्व का कार्य किया। बालाराम बापू बोकोल भी इन्हीं दत्तोजी गोपीनाथ के वंशज थे, जो गत शताब्दी के महाराष्ट्र इतिहास में एक बड़े प्रसिद्ध पुरुष हुए।

राघोजी सोमनाथ को बरार प्रदेश के जीतने का कार्य सौंपा गया था। वे कभी कभी कोंकन के युद्धों में भी भाग लिया करते थे। राघोजी के पिता सोमनाथ डबीर (मुंशी) थे, और पर-राष्ट्रों से स्वराज्य-विषयक हिताहित-संबंधी कार्य उन्हीं को सौंपे गये थे। सोमनाथ की मृत्यु हो जाने पर शिवाजी ने वे दोनों कार्य जनार्दन हनुमंते को सौंपे थे।

नीराजी रावजी न्यायाधीश थे, और उनके पुत्र प्रल्हाद, शिवाजी की ओर से, गोलकुंडा के दरबार में वकील थे। राजाराम के शासन-काल में इन्हीं प्रल्हादराव ने, जिंजी के घिर जाने पर भी, उसकी रक्षा की, जिससे राजाराम ने उन्हें पतप्रतिनिधि बनाया था।

उस समय प्रभू जाति के जितने वीर और राजनीतिज्ञ प्रसिद्ध थे, उनमें मुरार बाजी, बाजी प्रभू और बालाजी आवजी बहुत ही प्रसिद्ध हो गये हैं। मुरार बाजी पंढरपुर के किलेदार थे। जब दिलेरखां ने पंढरपुर को घेर लिया था, तब इसी वीर ने बड़े शौर्य से आत्म-त्याग करके उस नगर की रक्षा की थी। (बाजीप्रभू पहले शिवाजी के शत्रुओं की ओर थे, पर पीछे से वे महाराज शिवाजी के बड़े विश्वासपात्र हो गये थे) जब शिवाजी को पकड़ने के लिये बीजापुर के सरदार आये, और उनको शिवाजी के पन्हाले से रायगढ़ की ओर चले जाने का समाचार मालूम हुआ, तब वे लोग शिवाजी का पीछा करने लगे। उस समय लोगों को उनके रायगढ़ तक, सुरक्षित रूप से, पहुँचने में बड़ी चिन्ता हुई। वह एक बड़ा ही संकटमय अवसर था, जिसे बाजी प्रभू ने ही सम्हाला था। महाराजा

शिवाजी के रायगढ तक सुरक्षित रूप से पहुँच जाने की तोपें जब तक सुनाई नहीं दी, तब तक मुसलमान सेना का मार्ग वे बडी दृढता के साथ रोके रहे, और मार्ग के एक कठिन मोर्चे पर केवल १००० सैनिकों के साथ वे बडी वीरता से डटे रहे। बीजापुर सरदारों की असंख्य सेना ने उस समय कई युक्तियों का अवलम्बन किया, पर उस बहादुर ने उसको एक कदम भी आगे की ओर बढने नहीं दिया। यद्यपि बडी बुरी तरह से घायल होकर वह वीर लोहूलुहान हो गया था, तथापि रागणा किले की तोपों के शब्द सुनाई देने तक उसने रणभूमि को नहीं छोडा, और अंत में तोपों के शब्द सुनकर ही, उस वीर ने अपने प्राण त्यागे। धन्य है उस स्वामिभक्त और स्वदेशाभिमानी वीर को ! यदि ऐसे ऐसे वीररत्न शिवाजी के सहायक न होते, तो केवल उनके हाथ से क्या हो सकता था ? अतः यदि ग्रीस के इतिहास में, जर्जिज की असंख्य सेना के सामने ३०० स्पार्टन लोगों के थर्मापली में किये हुए पराक्रमों को पढ कर आश्चर्य माननेवाले लोग बाजी प्रभू को लिओनिडस कहें, तो वह सर्वथा योग्य ही होगा।

बालाजी आवजी हबशियों के आश्रित एक सरदार के वंशज थे और बालाजी विश्वनाथ की भांति उन्हें भी अपनी रक्षा करने के लिये अपने निवास-स्थान को त्याग देना पडा था। सन् १६४८ में शिवाजी ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें अपना मुख्य चिटनवीस बनाया था। उनके पुत्र और नाती ने भी राजाराम के समय में, बडे बडे महत्वपूर्ण कार्य किये थे। "चिटनीस की बखर" जो प्रसिद्ध है, उसी वंश के एक पुरुष ने लिखी है।

मावले सरदारों में से येसाजी कंक मावलों की पैदलपल-टन के मुख्य सेनापति थे। उन्होंने शिवाजी के शासन काल के आरम्भिक दिनों में, प्रदेशों को जीतने में, बड़ी सहायता की थी। ये और तानाजी सदा-सर्वदा महाराज शिवाजी के ही साथ रहा करते थे। जब शिवाजी ने अफजलखां का वध किया, और शाइस्ताखां के घर में घुस कर उस पर चढ़ाई की, तब भी ये दोनों उन्हीं के साथ थे। इसके अतिरिक्त जब शिवाजी दिल्ली को गये थे, तब भी उन्होंने उनका साथ नहीं छोड़ा था।

तानाजी मालुसरे और उनके भाई सूर्याजी ने सिंहगढ को जीतने में अपूर्व पराक्रम किया था। वे दोनों भाई अपने प्राणों की चिन्ता न करके, किले पर चढ गये, और उसको बड़ी वीरता से विजय किया। इस प्रकार 'गढ' (किला) तो प्राप्त हो गया, किन्तु तानाजी 'सिंह' चला गया। सिंह-गढ-विजय का वर्णन करते हुए महाराष्ट्र कवियों ने इन उभय-बंधुओं की कीर्ति का गान करके उनके नाम अमर बना दिये हैं।

बाजी फसलकर की मृत्यु कोंकन में सावंतों के युद्ध में हुई थी। फिरंगोजी नरसाला चाकन के किलेदार थे; और सन् १६०७, ई० में उन्होंने वह किला शिवाजी को सौंप दिया था। जो लोग पहले शत्रु थे, और फिर शिवाजी के परम मित्र बन गये, उन्हीं में बाजी फसलकर भी एक थे। जब मुगलों ने चाकन को फिर से ले लिया, तब उन्होंने बाजी फसलकर को भी अपनी नौकरी के लिये बुलाया। पर फसल-कर ने उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों को नहीं माना, और उन्होंने महाराज शिवाजी की ही सेना में नौकरी कर ली।

संभाजी कावजी और रघुनाथपंत ने जावली की चढ़ाई में मुख्य भाग लिया था। इसी चढ़ाई में चन्द्रराव मोरे की हत्या हुई थी। जिस प्रकार येसाजी कंक पैदल सेना के मुख्य अधिकारी थे, उसी प्रकार नेताजी पालकर भी घुड़सवारों के मुख्य सरदार थे। शिवाजी के अन्य सभी सरदारों की अपेक्षा वे बड़े साहसी और दृढ़ थे। उन्होंने अहमदनगर, जालना और औरंगाबाद तक के पूर्वीय प्रदेश को लूटा था, और जहां कहीं कोई संकट उपस्थित होता, वे वहीं पर उपस्थित हो जाया करते थे।

प्रतापराव गूजर भी घुड़सवारों के ही एक सेनापति थे। शिवाजी ने बागलान की मुगल सेना तथा पन्हालखोरी की बीजापुर-सेना के पराभव करने का कठिन कार्य उन्हीं को सौंपा था। उन्होंने अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार उस कार्य का बहुत अच्छी तरह पूर्ण किया। शिवाजी ने मुगल बादशाही सेना के साथ सुलह करके औरंगाबाद में अपनी जो सेना रखी थी, उसके नेता प्रतापराव ही थे। बीजापुर-वालों की सेना का ठीक ठीक पीछा न कर सकने के कारण शिवाजी ने उन्हें बहुत कुछ कहा-सुना था। यह बात प्रतापराव के हृदय में लग गई। अतएव जब फिर से बीजापुर की सेना से उनकी मुठभेड़ हुई, तब वे उस पर बड़ी बुरी तरह से टूट पड़े, और यद्यपि उस युद्ध में बीजापुर की सेना को हार जाना पड़ा, तथापि उस कार्य के पूर्ण करने में प्रतापराव को तानाजी मालुसरे, बाजी प्रभु, बाजी फसलकर और सूर्याजी काकडे की तरह अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी।

उस समय खंडेराव दाभाडे, परसोजी भोंसले, संताजी घोरपडे, धनाजी जाधव आदि शूर पुरुष नवीन रूप से चमकने लगे थे। शिवाजी के अनंतर उनकी सच्ची योग्यता जनता को मालूम हुई। उनमें से पहले दो पुरुषों ने तो बरार में मराठों के राज्य की जड़ जमाई, और दूसरे दो पुरुषों ने औरंगजेब को हराकर महाराष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिये आरंभ किये हुए युद्ध का अंतिम उद्देश पूर्ण किया।

इस प्रकार इन लोगों के बल और बुद्धि की सहायता से ही शिवाजी स्वराज्य को स्थापित कर सके थे। उनमें से कोई भी वीर संकट के समय अपने कर्त्तव्य-मार्ग से नहीं डिगा। इनमें से किसी ने भी आपत्ति के समय अपने स्वामी को धोखा नहीं दिया; और न कोई शत्रुओं की शरण गया। यही नहीं, किन्तु अनेक वीरों ने केवल यही कह कर कि "मैंने अपना कर्तव्य ही किया है", विजय प्राप्ति के समय अपने प्राण आनन्दपूर्वक त्याग किये। इस स्वार्थत्याग की कथा से उक्त लोगों का महत्व तो मालूम होता ही है, परन्तु उसके साथ ही शिवाजी पर उनका अपूर्व प्रेम और जिस महान् कार्य के लिये वे प्रयत्न करते थे, उसकी भी सच्ची महत्ता मालूम हो जावेगी। उन लोगों के परिश्रम के बल पर जिस राज्य की स्थापना हुई थी, उसकी सीमा को बतलाना भी अत्यन्त आवश्यक है। जब सन् १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ, उस समय स्वराज्य की सीमा बहुत कुछ बढ़ गई थी। शहाजी की पूना प्रदेश की जागीर, पूना, सूपा, इन्दापुर और बारामती परगने, मावल का सारा भाग, वाइ, सितारा, कहाड तक का सितारा जिले का सारा पश्चिमीय भाग,

के चरित्र का और उनके समय की परिस्थिति का पाठकों को पूर्ण परिचय नहीं होगा। चिटनवीस की बखर में तो कई साधु महात्माओं के नामों का उल्लेख किया गया है। पर उनमें चिंचवड के मोरयादेव, निगडी के रघुनाथ स्वामी, बेदर के विट्ठलराव, सिंगाटे के वामन जोशी, दहिताने के निंबाजी बाबा, धामणगाव के बोधलेबाबा, वडगांव के जयराम स्वामी, हैदराबाद के केशवस्वामी, पोलादपुर के परमानन्द बाबा, संगमेश्वर के अचलपुरी और पाडगांव के मनीबाबा, उस समय, बहुत प्रसिद्ध थे। देहू के तुकाराम बाबा और चाफल के रामदास स्वामी ने तो महाराष्ट्रीयों के धार्मिक संसार में बड़ी हलचल मचा दी थी। शिवाजी ने रामदासजी को ही अपना धर्मगुरु बनाया था और वे कभी कभी व्यावहारिक विषयों में भी उनसे परामर्श लिया करते थे। इन उभय महात्माओं ने महाराष्ट्रीयों के धार्मिक मतों में जो कुछ परिवर्तन किया, उसका वर्णन तो हम एक स्वतंत्र परिच्छेद ही में करेंगे, पर यहां पर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने शिवाजी के द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय हलचल को धार्मिक स्वरूप देकर महाराष्ट्र-समाज में सर्वसाधारण के हित के लिये स्वार्थ-त्याग करने की इच्छा उत्पन्न कर दी थी। शिवाजी का यह उद्देश्य नहीं था कि महाराष्ट्र का उद्धार करने में अपना ही सुख सधे, वरन् गो ब्राह्मणों का पालन और स्वधर्म की प्रतिष्ठा रखने ही के लिए वे प्रयत्न करते थे। इन उद्देशों का लोगों पर प्रभाव डालने के लिये ही शिवाजी ने, रामदासजी के उपदेश के अनुसार, अपने राष्ट्रीय झंडे का रंग भगवा रखा था। सांसा-

रिक सुखों का त्याग करनेवाले मुनि, सन्यासी आदि पुरुष भगवे कपड़े ही पहिनते हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि भगवा रंग सुख के त्यागन का चिन्ह होता है, इसीसे रामदासजी ने उस रंग को पसन्द किया था। रामदासजी के कथनानुसार ही विदेशियों के प्रभाव को जतलानेवाली 'सलाम' करने की प्रथा बन्द हुई थी, और 'रामराम' कहने की प्रथा प्रचलित की गई थी। उन्हीं के अनुरोध से शिवाजी ने पहले के मुसलमानी नाम बदल कर अपने कर्मचारियों के लिये संस्कृत नामों की आयोजना की थी, और पत्र-व्यवहार की प्रथा भी बदल दी थी। एक दिन तो शिवाजी ने अपना सारा राज्य श्रीरामदासजी को समर्पण कर दिया था, पर रामदासजी ने उन्हीं से उस राज्य का प्रबंध करने के लिये कहा। पर एक बार जब शिवाजी ने श्रीरामदासजी से, अपने इष्ट देव श्रीरामजी की पूजा-नैवेद्य के लिये, थोड़ी सी जमीन स्वीकार करने के लिये बड़ा अनुरोध किया, तब उन्होंने उनकी प्रार्थना मान ली। परन्तु उन्होंने जान बूझ कर वही जमीन मांगी, जो उस समय तक विदेशियों के ही अधिकार में थी। ऐसा करके रामदास स्वामी ने इस बात का संकेत किया कि स्वदेशोद्धार का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ।

महाराष्ट्र साम्राज्य के प्रभातकाल के समय उदित होनेवाले जिन मुख्य मुख्य पुरुषों के चरित्रों का हमने उल्लेख किया है, उनसे हमारे पाठकों को उस समय की परिस्थिति का अच्छी तरह से ज्ञान हो जायगा। यदि हम अकेले शिवाजी का ही चरित्र लिखते, तो उससे मुख्य बात का पता नहीं चल सकता था। इन लोगों के ही कारण शिवाजी के सैनिकों में

स्वीकार करा लीं। इस प्रकार बीजापुर के युद्धों में सफलता प्राप्त हो जाने के कारण शिवाजी का बड़ा प्रभाव स्थापित हो गया, जिससे उनके शासन का प्रदेश भी बढ़ा, और उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। फिर भी, मराठों में एकता करके उनके प्रदेश की रक्षा करने का उनका मूल विचार बिलकुल नहीं बदला। बीजापुर-दरबार के साथ उनकी जो लड़ाइयां हुईं, उनका इतिहास ही शिवाजी के शासनकाल का दूसरा भाग है। इस प्रकार बीजापुर-दरबार को हरा देने के बाद उन्हें दक्षिण पर चढ़ाई करनेवाले मुगलों से सामना करना पड़ा। इसलिए मुगलों के साथ की हुई लड़ाइयों का इतिहास ही शिवाजी के शासनकाल का तीसरा भाग है। सन् १६६२ ई० से उन युद्धों का आरंभ हुआ, और सन् १६७२ में मुगलों का पराभव हुआ। इस प्रकार, नवीन रूप से स्थापित की जाने वाली मराठशाही के प्रभाव को स्वीकार करने के लिये शिवाजी ने मुगलों को बाध्य किया। सन् १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक किया गया। उस समय से उनके शासन काल के चौथे और अंतिम भाग का आरंभ होता है। इस भाग में उनकी सारी आशाएँ और मनोरथ पूर्ण हो गये, अतएव शिवाजी के शासनकाल की पूर्णावस्था का भी वही भाग है। उस भाग के इतिहास से उनके चरित्र और स्वभाव का अच्छी तरह से ज्ञान हो जाता है। उस भाग में उन्होंने जिस प्रकार की शासन-प्रणाली का अवलंबन किया और जिन राजनैतिक तत्वों का आदर्श खड़ा किया, उन्हीं से उनकी सब योग्यता मालूम हो सकती है। शिवाजी ने अपने कर्तव्य मुख्य उद्देश में तो कभी परिवर्तन नहीं किया। मराठों

बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके अपनी रक्षा करना ही उनका मुख्य ध्येय था; और जिस इच्छित प्रदेश में उन्हें उक्त ध्येय को सिद्ध करना था, उस प्रदेश की परिस्थिति के अनुसार, सीमा भी बढ़ती गई; तो भी उनका मुख्य उद्देश कभी नहीं बदला। अपने पड़ोसियों से अपनी जागीर की रक्षा करते हुए, अचानक प्राप्त किये हुए नये प्रदेश को मुगलों के कष्टों से रक्षा करना उनके लिए आवश्यक था, अतएव उनके मूल उद्देश स्वरक्षा को राष्ट्रीय रक्षा का स्वरूप प्राप्त हो गया। इस प्रकार उनके शासन की सीमा बढ़ती गई; और उन्हें विभिन्न स्थानों के मराठे सरदारों में एकता करने का अच्छा अवसर मिला, परन्तु उनका उपर्युक्त उद्देश तो क़ायम ही था। उन्हें बीजापुर अथवा मुगल बादशाह से युद्ध करने की बिलकुल इच्छा नहीं थी; और यदि ये बादशाह पश्चिमी महाराष्ट्र को हस्तगत कर लेने की इच्छा न करके कर्नाटक और उत्तरीय भारत के अपने प्रदेशों पर ही शासन करते रहते, तो शिवाजी उनसे कदापि युद्ध न करते। हाँ, गोलकुंडा राज्य की रक्षा करने का उन्होंने निश्चय कर लिया था। मुगलों की सेना को मार भगाने के कार्य में बीजापुर-दरबार को उन्होंने सहायता भी दी थी। अतः यदि मुगल बादशाह शिवाजी के शासन के प्रदेश को कष्ट न पहुँचाते, तो वे मुगलों के माण्डलिक राजा भी बनने के लिये तैयार हो जाते। यहाँ तक कि मुगल बादशाह के स्वामित्व को स्वीकार करने के लिये वे दिल्ली गये भी थे, पर मुगलों ने उन्हें कपट से वहाँ पर क़ैद कर लिया। यद्यपि मुगलों ने उनके साथ इस प्रकार कपट का बर्ताव किया, तथापि वे उनके साथ सुलह करने के लिए तैयार हो

का मित्र था। साथ ही वह बड़ा उद्धत और बेपरवाह भी था। उसकी पत्नी को उसका यह आचरण अच्छा नहीं लगता था। अत एक बार उसने उसे समझाने का प्रयत्न किया, पर उस अपराध के बदले उस दुष्ट ने उस अबला स्त्री को तोप से उड़ा दिया। परन्तु जब उस नीच मनुष्य की मृत्यु हो गई, तब उसके तीन पुत्र आपस में झगड़ने लगे। उस समय उन्होंने शिवाजी से निपटारा करने के लिये कहा। शिवाजी ने उन तीनों भाइयों को कैद करके पुरंदर पर अपना अधिकार कर लिया। इस कार्य के लिए ग्राट डफ ने शिवाजी को विश्वासघाती बतलाया है, पर यह उनका भ्रम है। इस बात को तो ग्राट डफ ने भी मान लिया है कि शिवाजी ने उन तीनों लड़कों को अच्छे अच्छे पारितोषिक देकर उनको सन्धा को पहुँचाया था। परन्तु बखरकारों ने तो लिखा है कि, उन तीनों भाइयों के झगड़ों के कारण निज को कष्ट होने के डर से किले के सैनिकों ने ही शिवाजी को उक्त परामर्श दिया था। उन तीनों भाइयों में से दो भाई तो इस बात पर राजी भी थे। अस्तु। बखर के इस वर्णन को पढ़ने से शिवाजी की निर्दोषिता ही सिद्ध होती है। वास्तव में उस किला, नाके पर होने के कारण, शिवाजी ने लिया था। ग्राट डफ के कथनानुसार विश्वासघात से नहीं लिया, और वहाँ के सैनिकों के परामर्श के बिना लिया था।

शिवाजी ने, अपने सदैव के नियमानुसार, ये किले भी व्यर्थ रक्त-पात करके नहीं लिये थे। इससे भी यही जान पड़ता है कि उनकी जागीर के आसपास रहनेवाले लोगों को उन पर कितना विश्वास था। जब उन्होंने हिरडेमावल प्रदेश

का रोहिद किला, और सह्याद्रि की श्रेणी के उत्तर में कल्याण से लगाकर दक्षिण के लोहगढ, रायरी और प्रतापगढ तक के सारे किले जीत लिये, तब उनके शासनकाल के विजयों का पहला भाग समाप्त हो गया। उन्होंने कल्याण के किले को जब जीत लिया, तब बीजापुर-दरबारवालों की आंखें खुलीं, और वे शहाजी को कष्ट देकर शिवाजी की हलचलों को बंद करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने शहाजी को कर्नाटक से वापस बुलाकर उन्हें कैद कर लिया। शिवाजी को जब शहाजी के शरीर को धक्का पहुँचने की आशंका हुई तब उन्होंने किले जीतने के कार्य को बंद कर दिया, और बीजापुर-वालों का बदला लेने के उद्देश से, वे मुगल-बादशाह शाहजहां से जा मिले। उक्त समाचार ज्यों ही बीजापुरवालों को मालूम हुआ, त्यों ही उन्होंने शहाजी को छोड दिया। शिवाजी ने मुगलों के पक्ष में शामिल होने के पहले उनसे चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्व मांगे थे, और शाहजहां ने भी शिवाजी के दिल्ली आने पर इस विषय में विचार करने का वचन दिया था। पर शाहजहां के जीवन-काल में इस विषय का फैसला नहीं हो सका। उक्त घटनाएं सन् १६५२ ई० में हुई, और उसी साल शिवाजी के शासन-काल का पहला भाग समाप्त हुआ।

जब तक शहाजी कारागार में रहे, तब तक शिवाजी ने कोई हलचल नहीं मचाई। पर, सन् १६५० ई० में, उनके मुक्त होते ही शिवाजी फिर से हलचल करने लगे। इस लिए बीजापुर-दरबार ने मुगलों से सुलह करके शिवाजी को दबाने का निश्चय किया। उसी समय से शिवाजी के शासनकाल

सन् १६६१–६२ में बीजापुर के बादशाह ने स्वयं ही शिवाजी पर चढ़ाई की, पर उस युद्ध का कोई परिणाम नहीं हुआ। इसके आगे भी एक दो वर्ष युद्ध का उक्त क्रम धीरे धीरे जारी रहा। इसी समय के लगभग शिवाजी ने नई जलसेना तैयार करके जजीरे के अतिरिक्त समुद्र तट के सभी किले जीत लिये। इस प्रकार बीजापुर-दरबार ने अपने सारे प्रयत्न निष्फल होते देख, हताश होकर, सन् १६६२ ई० में शहाजी को मध्यस्थ बनाकर शिवाजी के साथ सुलह की। उस सुलहनामे के अनुसार शिवाजी का जीता हुआ सारा प्रदेश उन्हीं के अधीन रखा गया। शिवाजी के शासन-काल के पहले भाग के अन्त में चाकन से लगाकर नीरा नदी तक का सारा प्रदेश, उनकी निज की जागीर और पुरन्दर से लेकर कल्याण तक के, सह्याद्रि पर्वत के, सभी किले उनके अधिकार में थे। परन्तु दूसरे भाग के अन्त में कल्याण से लेकर गोवा तक का, कोंकन का सारा प्रदेश और इसी कोंकन-प्रदेश के समानान्तर घाट पर का भीमा से लगाकर वारना तक का, उत्तर-दक्षिण १६० मील लम्बा और सह्याद्रि से पूर्व और १०० मील चौड़ा प्रदेश शिवाजी को और मिला। उनके शासनकाल के तीसरे भाग के अंत में बीजापुर-दरबार ने, उस सुलहनामे को भंग करके, फिर न शिवाजी पर चढ़ाई कर दी। उस समय शिवाजी के सेनापति प्रतापराव गूजर ने उस सेना को मार भगाया, परन्तु उसका पीछा न करके उसे सुरक्षित-रूप में अपने प्रदेश को चले जाने दिया। परन्तु शिवाजी ने इस असामयिक दयाभाव के लिए प्रतापराव को बहुत कुछ कहा सुना। यह बात प्रतापराव के मन में ऐसी लगी कि, जब बीजापुर

की सेना ने फिर से शिवाजी के प्रदेश पर चढ़ाई की तब ये उस पर बुरी तरह से टूट पड़े, और शत्रु सेना के साथ बड़ी वीरता से लड़ते लड़ते अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। इसके कुछ दिनों बाद जब मुगलों ने आकर बीजापुर को घेर लिया, तब बीजापुर के बादशाह ने अत्यन्त विनय-पूर्वक शिवाजी से सहायता माँगी। उस समय शिवाजी ने उनके सारे अपराधों को भूल कर उन्हें सहायता दी और मुगलों के प्रदेश में युद्ध छेड़ कर, उनकी सेना पर पीछे की ओर से तथा इधर उधर की ओर से हमला करके उनको बीजापुर से अपने घेरे को हटाने के लिये बाध्य किया। शिवाजी के इस उदारतापूर्ण आचरण के कारण ही बीजापुर का राज्य २० वर्ष तक टिक सका। वास्तव में हमें इन घटनाओं का वर्णन शिवाजी के शासनकाल के तीसरे भाग में करना चाहिए, परन्तु इस परिच्छेद में उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र इस हेतु से करा दिया है कि जिससे बीजापुर दरबार के साथ होनेवाले सभी संग्रामों का सविस्तर वृत्तान्त पाठकों को एक ही जगह मिल जाय।

छठवां परिच्छेद।

वृक्ष में फल आये।

सन् १६६२ ई० से शिवाजी के शासन-काल के तीसरे भाग का आरम्भ हुआ। इस समय तक शिवाजी ने मुगलसत्ता की हलचलों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया था। हां, १६५७ में उन्होंने एक बार जुन्नर शहर को लूटा था। इस एक चढ़ाई के अतिरिक्त इन दोनों पक्षों में, सन् १६६२ तक, शत्रुता उत्पन्न करने वाली और कोई घटना नहीं हुई थी। शाहजहां बादशाह के समय में तो शिवाजी उसकी शरण में जाने के लिये भी तैयार हो गये थे, इसमें उनका केवल यही मुख्य उद्देश नहीं था कि बीजापुर-दरबार को भय दिखला कर अपने पिता का छुटकारा करा लिया जावे, वरन् उन्हें शाहजहां से अपने स्वत्वों की स्वीकृति भी करा लेनी थी। तदनुसार बादशाह ने भी उन्हें वचन दे दिया था। इस विषय में उनकी यही शर्त थी कि, शिवाजी स्वयं दरबार में उपस्थित होकर स्वत्व-प्राप्ति की प्रार्थना करें। औरंगजेब ने भी, बीजापुर के घेरे को उठाकर, दिल्ली के तख्त को प्राप्त करने के लिए अपने भाई पर चढ़ाई करते समय, शिवाजी के कोंकण के स्वामित्व को स्वीकृत कर लिया था। इसके अतिरिक्त उसने यह भी इच्छा प्रकट की थी कि शिवाजी चुने हुए सरदारों सहित, बादशाह की नौकरी को स्वीकार करके, नर्मदा

क दक्षिण वाले बादशाह के प्रदेश में शांति स्थापित करने का प्रयत्न करें; पर मुगल-साम्राज्य के अधिकार प्राप्त होते ही वह उन सारी बातों को भूल गया। जब सन् १६६१ ई० में मुगल सेना ने शिवाजी के उत्तरीय सैनिक स्थल कल्याण पर एकाएक चढ़ाई करके उसे जीत लिया, तब शिवाजी बीजापुर वालों के युद्ध में उलझे हुए थे, इससे वे मुगल सेना को उस अपराध का प्रायश्चित नहीं दे सके। परन्तु जब उन्होंने सन् १६६२ ई० में बीजापुर-दरबार से सुलह कर ली, तब उनके सेनापति नेताजी पालकर ने औरंगाबाद के पास की मुगल सेना पर चढ़ाई कर दी और मोरोपंत पेशवा ने भी जुन्नर के उत्तर में मुगलों के दक्षिण किले जीत लिये। इस प्रकार दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया। मुगलों के सरदार शाइस्ताखां ने पूना और चाकन ले लिया; और पूना में अपनी फ़ौज का डेरा जमा दिया। एक दिन शाइस्ताखां पूना के महल में आनंदपूर्वक पड़ा हुआ था, कि इतने में शिवाजी ने रात को उस पर चढ़ाई करके उसके किये का बदला चुकाया। मुगल घुड़सवारों ने सिंहगढ़ तक शिवाजी का पीछा किया, पर नेताजी पालकर ने उन्हें मार्ग में ही घेर कर उन्हें मार भगाया। यह घटना सन् १६६३ ई० में हुई। सन् १६६४ ई० में शिवाजी ने उस समय के व्यापार के मुख्य केन्द्र सूरत नगर पर पहली चढ़ाई की। यद्यपि उन्हें उस प्रदेश के विषय में कोई जानकारी नहीं थी, तथापि उन्हें मार्ग में किसी असुविधा से सामना नहीं करना पड़ा। उसी समय मराठों की जल-सेना ने सूरत से मक्का की ओर जाने वाले यात्रियों के कुछ जहाज़ पकड़ लिये। सन् १६६६ ई० में मराठों के एक

दूसरे सैनिक दल ने गोवा के दक्षिण की ओर के एक सम्पत्तिशाली बंदर को लूट लिया, जिससे उत्तरीय कनारा प्रदेश में शिवाजी का प्रभाव अच्छी तरह से स्थापित हो गया । शाइस्ताखा ने तो, पराजित हो जाने के कारण, फिर कभी सिर नहीं उठाया । जब शिवाजी के आगे शाइस्ताखां की दाल नहीं गली, तब दिल्ली के बादशाह ने उसे वापिस बुला लिया, और शिवाजी के प्रभाव को नष्ट करने के लिए रणपंडित राजा जयसिंह और दिलेरखा को भेज दिया। उन दोनों वीरों के सैनिक दल ने मराठों के प्रदेश में घुसकर पुरन्दर के किले को घेर लिया, इसलिए महाड़ के मुरारबाजी देशपाडे नामक प्रभू सरदार ने बड़ी शूरता से उस नगर की रक्षा की । यहा तक कि उस समर-वीर ने अपने प्राण त्याग करके भी उस प्रचड मुगल सेना का सामना किया, और उसे नीचा दिखाया । बखर-लेखक अथवा ग्राट डफ ने इस बात का कोई कारण नहीं दिया है कि, उस समय शिवाजी को दिल्लीश्वर के आश्रित, प्रमुख हिन्दू सरदार राजा जयसिंह की शरण में जाकर, मीठी बातों के द्वारा अपने कार्य को साध लेने का परामर्श क्योंकर दिया गया था ? पर, इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि, शिवाजी ने निराश होकर के ही उस मार्ग का अवलम्बन नहीं किया था । बखर-लेखक का कथन है कि माता भवानी ने शिवाजी के मन में प्रेरणा की थी कि, राजा जयसिंह परमेश्वर का लाडला भक्त है, और उसके साथ युद्ध करने में सफलता नहीं होगी, अतः मित्रता करके ही अपने उद्देश्य को पूर्ण करना ठीक होगा । परन्तु क्या जिस वीर ने अफजलखा और शाइस्ताखा जैसे प्रभावशाली मुगल सर-

दारों को मार भगाया था और जिस नरसिंह के रणधुरधर सरदारों ने किसी नेता या किले का आश्रय न होते हुए भी सारे महाराष्ट्र में फैली हुई औरंगजेब के सैन्य-समुद्र को पीछे हटा दिया था, वह प्रत्यक्ष वीर-रसावतार शिवाजी जयसिंह से युद्ध करने को असमर्थ था? सच तो यह है कि जब कभी शिवाजी ने स्वयं सेना-नायक बनकर शत्रुओं पर चढ़ाई की, तब उन्हें बराबर सफलता मिलती रही, यहां तक कि ज्यों ज्यों कठिन संकट उन पर आते थे, त्यों त्यों उनका शौर्य और सूझ अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। ऐसी दशा में भी, जब कि शिवाजी ने जानबूझ कर जयसिंह की शरण आकर प्राय सारे किले और प्रदेश उन्हें सौंप दिये, तब उन्हें और उनके साथियों को अवश्य ही कोई न कोई राजनैतिक दाव मालूम हुआ होगा। कदाचित् शिवाजी ने सोचा हो कि, थोड़ी देर के लिये जयसिंह की शरण आने से, दिल्ली में प्रविष्ट होकर वहां के बड़े दरबार में अपने विचार प्रकट करने के लिये अवसर मिलेगा, अथवा कम से कम बड़े बड़े राजपूत सरदारों से परिचय हो जायगा। साथ ही अपनी बड़ी बड़ी कामनाएं पूर्ण होने में भी, स्वार्थत्याग से संपादित की हुई जयसिंह की मित्रता से, बहुत कुछ सहायता मिल सकने का भी उन्हें विश्वास हुआ होगा। चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्व प्राप्त करने के लिये तो वे लगातार प्रयत्न कर ही रहे थे। परन्तु शाहजहां और औरंगजेब ने उनके उन स्वत्वों की स्वीकृति नहीं दी थी। उन स्वत्वों को प्राप्त कर लेने का उन्हें विश्वास था, इसीसे कदाचित् उन्होंने सोचा हो कि कुछ समय के लिये जयसिंह की बांह गहने से, उक्त स्वत्व अधिक

किया। इस प्रकार गढ तो हस्तगत हो गया, पर उसके लिए तानाजी जैसे सिंह को अपने प्राण त्यागने पड़े! सिंहगढ के जीत लेने के अनंतर शिवाजी ने पुरंदर, माहुली, कर्नाला, लोहगढ और जुन्नर के किले भी जीत लिये। उन्होंने जंजीरे पर भी चढ़ाई की थी, पर सिद्दी की मजबूत जल-सेना के कारण वे कुछ भी नहीं कर सके। उन्होंने फिर से सूरत को लूटा, और सूरत से लौटते समय, मार्ग में उनका पीछा करने वाले मुगल सरदारों से, उनकी मुठभेड हो गई। यद्यपि मुगल सेना उनकी सेना से बहुत बडी थी, तथापि शिवाजी के घुड़सवारों ने, मुगल सेना को हराकर, सूरत की लूट का द्रव्य रायगढ को सुरक्षित रूप से पहुंचा दिया। प्रतापराव गूजर ने भी खानदेश में घुस कर, बरार के बिलकुल पूर्वीय भाग तक, सब प्रदेशों पर कर लगाया। इसके पूर्व मराठों ने दिल्ली के बादशाह के प्रदेश से चौथ और सरदेशमुखी कभी वसूल नहीं की थी। मोरोपंत पेशवा ने भी सन् १६७१ ई० में बागलान के साल्हेर आदि किले जीत लिये। परन्तु सन् १६७२ ई० में ही मुगलों ने साल्हेर को फिर घेर लिया, अतएव मराठों ने बडी वीरता से नगर की रक्षा की, तथा मोरोपंत पेशवा और प्रतापराव गूजर ने उस असंख्य शत्रु-सेना का भारी सामना कर के उसको पूर्ण पराजित कर दिया। सन् १६७३ ई० में शिवाजी ने फिर से पन्हाला जीत लिया। उसी साल अण्णाजी दत्तो ने हुबली नगर को लूटा। शिवाजी ने कारवार की ओर अपनी जल सेना को भेज कर उस ओर के समुद्र तट का सारा प्रदेश जीत लिया, और गोलकुंडा के राजा की भांति बेदनूर के राजा से भी कर वसूल किया। इधर बीजापुर-

दरबार की भेजी हुई सेना को प्रतापराव ने अच्छी तरह से छकाया और जब बीजापुर-दरबार ने सन् १६७४ ई० में फिर से अपनी सेना को भेजने की धृष्टता की, तब हंसाजीराव मोहिते ने बीजापुर के मुख्य द्वार तक उसका पीछा किया। इस प्रकार अनेक युद्ध करके शिवाजी न केवल चार ही वर्ष में, फिर से अपने सारे प्रदेश को वापिस ले लिया और बहुत सा नया प्रदेश भी जीता। उत्तर में सूरत तक, दक्षिण में हुबली-बेदनूर तक और पूर्व में बरार, बीजापुर और गोलकुंडा तक उनके राज्य का विस्तार हो गया। इनके अतिरिक्त वे ताप्ती नदी के दक्षिण और मुगलों के प्रदेश से चौथ और सरदेशमुखी भी वसूल करने लगे तथा गोलकुंडा और बेदनूर के राजाओं को अपने अधीन करके उनसे भी खिराज लेने लगे। अर्थात् बखर लेखकों के कथनानुसार, उन्होंने तीन मुसलमान बादशाहों को अपने अधीन करके संसार को दिखला दिया कि हिन्दू सम्राट्-पद के लिये सर्वथा वे ही योग्य हैं। उक्त विचार से ही, उनके तीस वर्ष के देशकार्य का महत्व ध्यान में लाकर, उनके मन्त्रियों ने बड़े ठाटबाट से उनका राज्याभिषेकोत्सव मनाया, और हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना की। उस समय के दक्षिणी भारत की परिस्थिति को देखते हुए लोगों के मन में स्वराज्य-विषयक विचार उत्पन्न कराना अत्यंत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से विशेष कर, शिवाजी का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से किया गया। अवश्य ही यह उद्देश्य पूर्ण हुआ, और औरंगजेब ने जब जब दक्षिण पर चढ़ाई की, तब तब वहां के सभी मराठे सरदारों ने एकत्रित होकर स्वराज्य की रक्षा करने की भरसक चेष्टा की।

उसी समय से शिवाजी के शासन का चौथा और अंतिम भाग आरंभ हुआ। राज्याभिषेकोत्सव मनाने के कारण चारों ओर आनंद और उत्साह फैल गया। और नये स्थापित किये हुए हिन्दू साम्राज्य के सम्मानार्थ सह्याद्रि पर्वत और समुद्र तट के प्रत्येक किले से तोपें दागी गईं। अपने शासन के इस चौथे भाग में शिवाजी को बहुत कुछ शान्ति सुख प्राप्त हुआ। मुगल सेना बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों को जीतने में फंसी रही, अतएव उसने शिवाजी को कोई विशेष कष्ट नहीं दिये। गोलकुंडा पर मुगल सेनापति ने चढ़ाई की, पर हंबीरराव मोहित की सहायक सेना समय पर पहुंच गई, अतएव उसे पीछे हट जाना पड़ा। शिवाजी के आश्रय के ही कारण कुछ समय तक गोलकुंडा राज्य की रक्षा हो सकी। शिवाजी ने जब कर्णाटक पर चढ़ाई की, तब गोलकुंडा के राजा ने उनको सहायतार्थ अपनी फौज भेजी। उस चढ़ाई में शिवाजी ठेठ तंजौर तक जा पहुंचे। मार्ग में उन्होंने वेलोर किले को भी जीत लिया, जिञ्जी के किले की मरम्मत की, और मैसोर के मार्ग पर अपनी फौज की छावनियां स्थापित कीं। उधर मुगल सेना बीजापुर के पास ही डटी हुई थी। जब उसने बीजापुर को घेर लिया, तब वहां के आदिलशाही राजा और उनके मंत्री बड़े घबड़ाये। उन्हें अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं देख पड़ा, और फिर उन्होंने शिवाजी से सहायता चाही। उस समय शिवाजी ने भी, पूर्व-द्वेषभाव को भूल कर, उनकी सहायता के लिये अपनी सेना भेज दी। तदनुसार शिवाजी की सेना ने सूरत से लगा कर बुरहानपुर तक के मुगल-प्रदेश को विध्वंस करके पीछे की ओर से और

दाहनी-बाईं ओर से मुगल सेना पर आक्रमण किया। इस प्रकार कैंची में पड़ जाने से मुगल सेना को, बीजापुर का घेरा हटा कर, औरंगाबाद की ओर,चले जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। चौथे भाग के येही मुख्य मुख्य युद्ध हैं। महाराज शिवाजी को उस समय थोड़ी सी विश्रांति मिल गई, इसलिये उनको राज्य-प्रबंध की ओर भी ध्यान देने के लिए अवसर मिला। उस अवसर में उन्होंने राज्य-विषयक जो कुछ सुधार किये, और राज्य-प्रबंध की जिस नई शैली का प्रचार किया, उसी के कारण वह भाग अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। शिवाजी ने जिन सुधारों या प्रथाओं का प्रचार किया, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा। हां, यहां पर सिर्फ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, शिवाजी अपने शासन-काल के पहले भाग के अंत में सिर्फ चाकन से लेकर नीरा नदी तक के छोटे से प्रदेश के स्वामी थे, परन्तु अपने अन्त समय में वे ही शिवाजी तापी नदी के दक्षिणी प्रदेशों में अत्यन्त बलवान् राजा हो गये थे; और तापी से लगकर कावेरी नदी तक के सभी हिन्दू और मुसलमान,राजा, उन्हें सम्राट् मान कर उनके अधीन हो गये थे।

सातवाँ परिच्छेद।

शिवाजी का राज्यप्रबंध।

शिवाजी की सैनिक योग्यता के इतिहास से हमें उनकी श्रेष्ठतर बुद्धि के एक ही भाग का ज्ञान होता है, परन्तु राज्य का सुप्रबंध करने के लिये जो आवश्यक गुण उनमें थे, और जिनके लिए हमारे मन में उनके विषय में अधिक पूज्यभाव उत्पन्न हो जाता है, उनका भी यहां पर विचार करना आवश्यक है। नपोलियन की तरह शिवाजी भी अपने समय की राजनैतिक संस्थाओं के उत्पादक और रचयिता थे। उन्हीं संस्थाओं के कारण प्रायः उन्हें अपने कार्यों में सफलता मिलती रही, और उनके अनन्तर, महाराष्ट्र पर जितने भयंकर संकट उपस्थित हुए, उनसे अपनी रक्षा करके, और मुगलों से लगातार बीस वर्ष तक युद्ध करके, महाराष्ट्र फिर से अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त कर सका। शिवाजी की स्थापित की हुई राजनैतिक संस्थाएँ, उनके पूर्व की हिन्दू और मुसलमानों की राज्यप्रबंध शैली से बिलकुल भिन्न थीं। अतएव उनसे उनकी अपूर्व कल्पनाशक्ति और अनुपमेय बुद्धि चातुर्य का अच्छी तरह से पता चल सकता है। इस लिए हमें उन संस्थाओं का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपने आरंभ किये हुए या संपादित किए हुए कार्य में फूट या कुप्रबंध का प्रवेश न होने देने के लिये भी वे बहुत सावधान रहा करते

थे। परन्तु उन्हीं के उत्तराधिकारियों ने, उनके अनन्तर, जब महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए लड़कर फिर से स्वराज्य स्थापित किया, तब उनकी आदर्श शासन-पद्धति का अनुकरण न करके, प्राचीन प्रणाली का अवलंबन किया। फलतः आपस में फूट हो गई; और कुप्रबंध के बीज जम गये। हम पहले ही लिख चुके हैं कि, शिवाजी ने अपने ही अधिकार में, सारे भारत पर, एक ही राज्य के स्थापित करने की इच्छा कभी प्रकट नहीं की थी। किन्तु उनका सारा प्रयत्न इसी उद्देश्य से था कि लोगों को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करा दी जाय, वे अपनी रक्षा करने और अपना स्वराज्य स्थापित करने के योग्य बन जायँ, और राष्ट्र के नाते से उनमें एकता स्थापित हो जाय। अन्य राष्ट्रों का नाश करने की उन्होंने कभी इच्छा नहीं की। गोलकुंडा, बेदनूर और बीजापुर के बादशाह से भी उनकी मित्रता थी, और उनके अधिकार के तैलंगन, मैसोर और कर्नाटक प्रांतों में उन्होंने कभी हस्तक्षेप नहीं किया। उन्होंने द्रविड देश की अपनी पैतृक जागीर भी अपने सौतेले भाई व्यंकोजी को सौंप दी थी। मुगलों के प्रदेशों से चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्व प्राप्त करके ही वे चुप हो गये थे। वे 'स्वराज्य' (अपने अधिकार का प्रदेश) और मुगलों के प्रदेश को (स्वराज्य के बाहर विदेशियों के अधिकृत प्रदेश को) बिलकुल भिन्न मानते थे। उन्होंने जिन राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना की, वे केवल महाराष्ट्र देश के राज्यशासन के ही लिये थीं। फिर भी महाराष्ट्र देश के बिलकुल दक्षिणी प्रदेश के जितने दुर्ग उनके अधिकार में थे, उनके प्रबंध के लिये भी उन्होंने इस प्रथा का अवलंबन किया था। उन्होंने अपने प्रदेश को

प्रांतों (जिलों) में विभाजित किया था, और पूना के पास की पैत्रिक जागीर के अतिरिक्त उनके अधिकार में निम्न प्रांत भी थे.—१ मावल प्रांत—वर्तमान मावला, साम्वड, जुनर और खेड ताल्लुके तथा उनके आस पास के १८ पहाडी किले, २ वाई, सितारा और कहाड प्रांत—वर्तमान सितारे जिले का पश्चिमी भाग और उनके आसपास के १५ पहाडी किले, ३ पन्हाला प्रांत—वर्तमान कोल्हापुर रियासत का पश्चिमी भाग और १३ पहाड़ी किले; ४ दक्षिण कोकन प्रांत—वर्तमान रत्नागिरि जिला और ५८ पहाडी किले तथा जलदुर्ग; ५ थाना प्रांत—वर्तमान उत्तरीय कोकन प्रदेश और १२ किले; ६,७ त्रिम्बक और बागलान प्रांत—वर्तमान नासिक जिले का पश्चिमी भाग और ६२ पहाडी किले। इन प्रान्तों के अतिरिक्त उनकी सेना की छावनियां अगले प्रांतों में थीं.—८ वनगढ प्रांत—वर्तमान धारवाड जिले का दक्षिणी भाग और २२ किले, ९, १०, ११ बेदनूर, कोल्हार और श्रीरंगपट्टन—वर्तमान मैसोर प्रदेश और १८ किले, १२ कर्नाटक प्रांत—वर्तमान मद्रास अहाते में सम्मिलित कृष्णा नदी का दक्षिणी प्रदेश और १८ किले, १३ वेलोर प्रांत—वर्तमान अर्काट जिला और २५ किले; और १४ तंजौर प्रांत तथा ६ किले। सह्याद्रि की सभी श्रेणियों पर छोटे-बड़े किले बने हुए थे, और पश्चिम में समुद्र तट तक और उन किलों के पूर्वीय प्रदेशों तक के बीच का प्रदेश की चौडाई ५० मील से लगाकर १०० मील तक की थी।

बखरा में लिखा गया है कि शिवाजी के अधिकार में २८० किले थे। पहाडी किले और उनके आसपास के प्रदेश को अपने राज्य का ही भाग मानना शिवाजी की राज्यप्रणाली

का एक तत्व था। नये किले बनाने और पुरानों की मरम्मत करने के लिये भी वे बहुत सा धन खर्च करते थे। उनके किलों पर बहुत सी सेना और युद्ध-सामग्री रहती थी। इन किलों की खूबी यह थी कि, इनके कारण शत्रुओं की चढ़ाइयों की चिंता न रहती थी, और भीतर सुरक्षित रूप से रह कर बाहर के शत्रुओं पर यथावत् गोलाबारी की जा सकती थी। इन्हीं किलों के द्वारा मराठों ने पहले-पहल ऐसे ऐसे शूरता-पूर्ण और साहसयुक्त रणकौशल दिखलाये हैं कि जो उनके इतिहास में अत्यंत मनोरंजक माने जाते हैं। इन्हीं किलों की मजबूत शृङ्खला में सारा महाराष्ट्र प्रदेश एकत्रित रूप से बँधा हुआ था, और संकट के समय इन किलों ने उसकी बड़ी रक्षा की। सिंगार के किले पर जब औरंगजेब की असंख्य सेना ने धावा किया, तब मराठे लोग कई मास तक उस किले के आश्रय से बड़ी वीरतापूर्वक लड़ते रहे, और यद्यपि अन्त में वह किला शत्रुओं के हस्तगत हो गया था, तथापि छत्रपति राजाराम के समय में वर्तमान औंध-नरेश के पूर्वजों ने ही सब से पहले शत्रुओं से उसे ले लिया था। तोरणा और रायगढ़ तो शिवाजी की बाल्यावस्था के ही पराक्रम के फल थे; और शिवनेरी किला उनका जन्म-स्थान ही था। बाजी प्रभु की वीरता से पुरंदर किला प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इधर रोहिड़ा और सिंहगढ़ के किले अद्वितीय योद्धा तानाजी मालुसरे के पराक्रम का परिचय कराते हैं। सिद्दी जोहार की प्रचंड सेना से टक्कर लेने के लिए पन्हाले का किला प्रसिद्ध है। रणशूर बाजी प्रभु ने अपने प्राणों की आहुति देकर रागणा किले की घाटी के मार्ग को बड़ी हिम्मत से रोका था, और इस लिए यह किला

भी इतिहास प्रसिद्ध हो गया है। मालवन का किला और कुलाबा की छावनी, ये दोनों समुद्री युद्ध करनेवाली मराठी जलसेना के मुख्य स्थान थे। अफजलखाँ के वध के कारण प्रतापगढ़ किला प्रसिद्ध है, तथा माहुली और सालरी में मावल वीरों ने मुगल सेनापतियों से सामना करके उन्हें हरा दिया था, इस कारण वे किले भी इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शिवाजी के अधीनस्थ इन किलों की पूर्वीय सीमा कल्याण, भिवंडी, वाई, कहाड, सूपा, खटाव, बारामती, चाकण, शिरवल, मिरज, तासगाव और कोल्हापुर के किलों से घिरी हुई है।

इन किलों ने शिवाजी को समय समय पर जो सहायता दी, उनसे यह कहा जा सकता है कि उनके सुप्रबंध और रक्षा करने में उन्होंने जितना परिश्रम किया वह सब सार्थक था। प्रत्येक किले पर एक रक्षक नियत था और उसी के अधिकार में उसकी जाति के कुछ सहायक रखे जाते थे। इन्हीं सब के हाथ में किले के आस-पास के विभिन्न तटों की रक्षा का कार्य सौंपा जाता था। इसके अतिरिक्त देशस्थ, कोकनस्थ और कहाडे इन तीनों ब्राह्मण-श्रेणियों में से सूबेदार अथवा सबनीस पद पर एक ब्राह्मण कर्मचारी रखा जाता था। साथ ही कारखानीस नामक एक प्रभु जाति का भी कर्मचारी रहता था। इन दोनों कर्मचारियों को किले पर के रक्षक की कई कार्यों में सहायता देनी पड़ती थी। रक्षक (हवलदार) और उसके नीचे के मराठे कर्मचारियों के हाथ में क़िले की सेना के प्रबंध का कार्य सौंपा जाता था। ब्राह्मण सूबेदार प्रदेश के प्रबंध का कार्य करते थे, और किले के आस पास के ग्रामों पर भी उन्हीं

की हुकूमत रहा करती थी। प्रभू कारखानीस के अधिकार में घास-दाना, गोला-बारूद आदि युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त किले की मरम्मत कराने का भी कार्य था। इस प्रकार उन तीनों जातियों को एक ही स्थान पर विभिन्न कार्य सौंपे गये थे, अतएव उनमें पारस्परिक प्रेम और विश्वास उत्पन्न हो गया था, और द्वेष-भाव उत्पन्न होने के लिये कोई कारण नहीं था। पर्वतों के आसपास के प्रदेशों की बड़ी सावधानी से रक्षा की जाती थी, और किले के पास के जंगलों की रक्षा करने का कार्य प्रजा के रामोशी आदि निम्न जातियों के हाथ में सौंपा जाता था। दिन में और रात में पहरा देने और रक्षा करने के काम के लिये प्रत्येक सिपाही को आवश्यक सूचनाएँ भी दी जाती थीं। किले के छोटे बड़े होने या उसके महत्व की दृष्टि से, वहां पर न्यूनाधिक सेना रखी जाती थी। नौ सिपाहियों के ऊपर एक 'नाइक' नियत किया जाता था। बन्दूक, तलवार, तीर, भाले, पट्टे, बर्छी आदि हथियार सैनिकों को दिये जाते थे। वेतन में प्रत्येक सिपाही को, उनके दर्जे के अनुसार, नकद अथवा अन्य प्रकार का नियत द्रव्य दिया जाता था।

यहां तक हमने केवल पहाड़ी किलों और उनके आसपास के प्रदेशों की व्यवस्था का वर्णन किया। अब राज्य के अन्य प्रदेशों की व्यवस्था का वर्णन करना आवश्यक है। जिस प्रकार वर्तमान ब्रिटिश राज्यप्रबन्ध में ताल्लुकों की शैली है, उसी प्रकार उस समय भी राज्य के अन्य प्रदेश महालों (परगनों) और प्रांतों में विभाजित किये गये थे। एक महाल की वार्षिक आय लगभग पांच लाख से लेकर सवा लाख तक

हुआ करती थी। दो या तीन महालों का एक सूबा और उसका अधिकारी सूबेदार कहलाता था। उसका वार्षिक वेतन चार सौ 'होन', अर्थात् मासिक १०० रुपये होता था। मुगलों की राज्यप्रबंध-प्रणाली में 'मालगुजारी' का कार्य गांव के पटेल, कुलकरनी (पटवारी) अथवा जिले के देशमुख या देशपांडे को सौंपा गया था। पर शिवाजी ने उस प्रथा का अवलंबन नहीं किया। यद्यपि गांव और जिलों के उक्त हकदारों के हक भी पूर्ववत् उन्हीं के हाथ में रखे गये थे, परन्तु मालगुजारी की व्यवस्था का सारा कार्य उनके हाथ से निकाल कर सूबेदार और महालदार के हाथ में दे दिया था। ये लोग अपने सूबे या अपने महाल का प्रबंध स्वयं ही करते थे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक दो-तीन गांव के पीछे कमाविसदार नामक एक और कर्मचारी नियत किया जाता था, जो मालगुजारी वसूल करने का कार्य करता था। महालों अथवा गांवों को ठेके पर देने, अथवा उनकी मालगुजारी किसी एक ही जमींदार से वसूल करने, की प्रथा महाराज शिवाजी को बिलकुल पसंद नहीं थी।

पैदल और घुड़सवारों की पलटनों के अधिकारियों और अन्य लोगों के अधिकारों की जिस प्रकार व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार किले पर के सैनिकों और उनके अधिकारियों के पद नियत किये गये थे। दस सिपाहियों पर एक नाइक, पांच नाइकों पर एक हवलदार, दो हवलदारों पर एक जमादार और ऐसे दस जमादारों के अधिकार में एक हजार सैनिकों का एक दल रखा जाता था। फिर उस दल पर 'हजारी' नामक एक अधिकारी नियत किया जाता था। इस प्रकार के सात हजारी एक सरनौबत के अधिकार में रहते थे, और इस

प्रकार एक मावलों का पलटन तैयार हो जाती थी। सवारों में 'बारगीर' और 'सिलेदार' नामक दो श्रेणिया थीं। पच्चीस बारगीर अथवा सिलेदार एक हवलदार के अधिकार में रहा करते थे। इस प्रकार के पांच हवलदारों पर एक जुमाला, दस जुमालों पर एक हजारी और पांच हजारियों पर एक 'पचहजारी' नियत था। इन सब पर फिर सवारों के सरनौबत का अधिकार था। पच्चीस सवारों के लिये एक भिस्ती और नालबंद नियत किया जाता था। पैदल और सवारों की प्रत्येक पलटन के मराठा अधिकारी के नीचे एक एक ब्राह्मण सबनीस और प्रभू कारखानीस अथवा ब्राह्मण मुजूमदार और प्रभू जमिनीस होता था। बारगीरों के घोड़ों को, वर्षाकाल में छावनियों में ही बांध रखते थे, और उन स्थानों पर उनके लिए घास दाने का अच्छा प्रबंध किया जाता था। सैनिक लोगों के रहने के लिये भी अलग अलग सुविधाजनक कोठरियां बनाई जाती थीं। सेना के अधिकारियों और सैनिकों को नियमित रूप से वेतन दिया जाता था। 'पागा हजारी' का वेतन १००० होन और 'पागा पचहजारी' का २००० होन नियत था। पैदल सेना के हजारी को ५०० होन वेतन-स्वरूप दिये जाते थे। पैदल सिपाहियों का वेतन ३ रुपये से लगा कर ९ रुपये तक नियत था और सवारों के बारगीरों का वेतन छै रुपये से लगाकर बीस रुपये तक, योग्यता के अनुसार, दिया जाता था। सेना के लोगों को वर्ष में आठ मास मुल्कगीरी पर रह कर मुगलों के प्रदेशों से वसूल की हुई चौथ और सरदेशमुखी की आमदनी पर अपना निर्वाह करना पड़ता था। उस समय वे अपने साथ अपने बाल-बच्चों

को कदापि नहीं रख सकते थे। किसी नगर के लूटने पर प्रत्येक सवार अथवा सिपाही को अपनी लूट का हिसाब देना पड़ता था। नये सवार अथवा सिपाही को, सेना में भर्ती होने के पहिले, अपने अच्छे आचरण के विषय में, अपने परिचित सिपाहियो अथवा सवारा की जमानत देनी पड़ती थी। सैनिक अधिकारियों को चूंकि चौथ और सरदेशमुखी की वसूली का हिसाब देना पड़ता था, अतएव उन्हें पेशगी वेतन दिया जाता था। उस समय नौकरी के बदले जमीन की आय अथवा स्वयं जमीन ही नहीं दी जाती थी। शिवाजी के सैनिक नियम यद्यपि बहुत कठोर थे, परन्तु फिर भी लोग उनकी सेना में बड़ी खुशी से भर्ती हो जाया करते थे। विजयादशमी के मुहूर्त पर जब सैनिकों की भरती होने लगती, तब घाटमाथे के मावले, कोंकन के हेटकरी, महाराष्ट्र के बारगीर और सिलेदार शिवाजी के राष्ट्रीय झंडे की ओर दौड़ पड़ते थे, और उनके नेतृत्व में शत्रुओं का सामना करने की अपेक्षा अन्य किसी प्रकार की नौकरी करना उन्हें पसंद ही नहीं आता था।

शिवाजी ने अपने राज्य में दो विशेष बातों का प्रचार किया। एक तो नौकरों को नकद वेतन देना, और दूसरे सरकारी कर्मचारियों के द्वारा स्वयं ही जमीन का कर वसूल कराना। उन्होंने उक्त दोनों प्रथाओं में, प्राचीन प्रथाओं की अपेक्षा जो कुछ परिवर्तन किया, उसका वर्णन बखरकारों ने भी दिया है। उक्त दोनों प्रथाओं का प्रचार करने के लिए उन्होंने पूर्ण निश्चय कर लिया था। उनका विश्वास था कि पहले के राज्यप्रबंध में गड़बड़ी होने का मुख्य कारण यही था

कि गावों और जिलों के जमींदारों को भूमि-कर वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। जमींदार लोग अपनी प्रजा से आवश्यकता से भी अधिक धन बटोरते थे, पर सरकारी कोष में कभी पूरा धन जमा नहीं किया जाता था। इसके अतिरिक्त वे लोगों में झगड़े फैलाते और सरकारी आज्ञाओं का भी उल्लंघन किया करते थे। अत प्राचीन प्रणाली के अनुसार जमींदारों के हाथ में जो कार्य थे, उन्हें करने के लिये शिवाजी ने वैतनिक कर्मचारी—कमाविसदार, महालकरी और सूबेदार नियत किये थे। खड़ी फसल पर धान्य अथवा नकद रुपयों के रूप में लगान लगाने का कार्य कमाविसदार को सौंपा जाता था। खेतों की जमीन को अच्छी तरह नाप कर, किसानों के नाम के सहित, सरकारी कागजों में दर्ज करते थे, और हर साल किसानों की ओर से सरकारी लगान देने के विषय में कबूलियत लिखा ली जाती थी। यदि लगान धान्य के रूप में वसूल करने की शर्त होती, तो कुल उपज पर दो-पंचमांश से अधिक नहीं लिया जाता था। शेष तीन-पंचमांश पैदावार किसान के लिए छोड़ दी जाती थी। अकाल के दिनों में, अथवा कम वर्षा होने पर, कृषकों को तकावी के लिये बहुत सा धन भी दिया जाता था, जिसे किसान लोग चार पांच वर्ष तक, नियत किश्तों में, चुका सकते थे। प्रत्येक सूबेदार को फौजदारी और मालगुजारी के कार्य सौंपे जाते थे। दीवानी या लेन-देन के झगड़े विशेष महत्वपूर्ण नहीं गिने जाते थे, और यदि उक्त प्रकार के झगड़े होते तो सूबेदार गावों के पंचों के द्वारा, और यदि अधिक झगड़े का मामला होता तो अन्य स्थानों के पंचों के द्वारा, उनका फैसला करा दिया करते थे।

अत्यंत पराक्रमी लोगों के ही अधिकार में रहा करता था। इस बात में भी महाराष्ट्र साम्राज्य के नष्ट हो जाने का बीज मिल सकता है। शिवाजी को यह बात पहले ही से मालूम हो गई थी, इसीसे उन्होंने अष्ट-प्रधानों में किसी के भी अधिकार वंशपरंपरागत रखने का प्रबंध नहीं किया था। उन्होंने अपने ही शासन काल में माणकोजी दहातोंडे, नेताजी पालकर, प्रतापराव गूजर और हंबीरराव मोहिते नामक चार विभिन्न सेनापति नियत किये थे। पहले पेशवा के अधिकार को लेकर उन्होंने यह अधिकार मोरोपंत पिंगले को दिया था। पंत अमात्य के अधिकार का भी वही हाल था। इनके सिवाय अन्य अधिकार भी किसी एक ही कुटुम्ब में वंशपरंपरा के लिए न रखने का प्रबंध किया था। शाहू महाराज के शासन-काल के आरंभ में भी उक्त बात की ओर ध्यान दिया गया था, पर अंत में पहले तीन पेशवा—बालाजी विश्वनाथ, पहले बाजीराव और बालाजी बाजीराव की बुद्धिमता और कर्तव्य-परायणता के कारण पेशवा का पद उन्हीं के वंश में, आनु-वंशिक तौर पर, कायम रहा। परिणाम यह हुआ कि उनके अनंतर के अन्य राजनीतिज्ञ प्रायः अकर्मण्य निकले, और उनका पतन होता गया, तथा राज्य के अधिकार एक से विभाजित न होने के कारण शासन की एकता नष्ट हो गई। पेशवाओं के शासनकाल में अष्टप्रधानों के अधिकार नष्ट हो गये और राज्य-प्रबंध की दशा शिवाजी के आदर्श की तरह न रह सकने के कारण, चारों ओर कुप्रबंध और गड़बड़ी फैल गई, तथा राष्ट्र का जीवन-मरण मुख्य अधिकारी की ही योग्यता पर अव-लंबित रहा। इस घातक परिणाम का दोष शिवाजी को

शासन-प्रणाली पर नहीं मढा जा सकता, वरन् हम कह सकते हैं कि, उस प्रथा का उल्लंघन करने ही के कारण आगे चल कर शिवाजी के उद्देशों पर पानी फिर गया।

एक और बात में भी शिवाजी अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने अपने किसी बड़े से बड़े अधिकारी को भी, उसकी कर्तव्यपरायणता के बदले, अथवा किसी सैनिक कर्मचारी को पराक्रम के बदले, जागीर के रूप में, जमीन कभी इनाम में नहीं दी। पेशवा और सेनापति आदि उच्च श्रेणी के अधिकारियों से लेकर छोटे छोटे कर्मचारियों अथवा सिपाहियों तक को उन्होंने उनका नियमित वेतन, फिर चाहे वह द्रव्य के रूप में या अन्य किसी रूप में, सरकारी कोष से देने का प्रबन्ध कर दिया था। सभी कर्मचारियों के वेतन नियत कर दिये गये थे, और वे प्रायः नियमित समय पर मिला करते थे। शिवाजी को जमीन इनाम की प्रणाली पसंद नहीं थी। इसका मुख्य कारण यही था कि, सुदशा और सदुद्देश्य में भी जागीरदार लोगों के हाथ से उस अधिकार का दुरुपयोग हो सकता है। जागीरदारों को अपनी अपनी जागीरों में प्रभाव स्थापित करने की इच्छा होना बिलकुल स्वाभाविक है, और उस जागीर से उनके खानदान का वंश परम्परा-गत सबंध भी हो जाता है। आखिर वह सम्बन्ध तथा प्रभाव दिन पर दिन बढता ही जाता है। बाद को आगे चल कर यदि कभी उनकी जागीर उनसे ले लेने का कारण उपस्थित होता था, तब उसके लिये बड़े प्रयास करने पड़ते थे। मुख्य राज्यशासन से अलग रह कर स्वतंत्र शासन स्थापित करने की ओर भारत के लोगों की बड़ी प्रवृत्ति थी।

(१) पहाड़ी किले—जिनके आधार पर शिवाजी के राज्य का भवन रचा गया था, और जिन्हें उन्होंने अधिक महत्व प्रदान किया।

(२) किसी एक ही घराने में राज्य का बड़ा पद वंशपरम्परा के लिये प्रचलित रखने की प्राचीन प्रथा का पालन न करना।

(३) सैनिक अथवा माली कर्मचारियों को, उनके कार्य के लिए जमीन या जागीरें देने की प्रथा की रोक।

(४) जमीन के कर वसूल करने का कार्य ज़िलों अथवा गावों के जमींदारों को न सौंप कर सरकारी नौकरों से कराने की प्रथा।

(५) ठेके पर गाव देने की प्रथा की रोक।

(६) अष्ट-प्रधानों की संख्या नियत करके उनमें राज्य-शासन के विभिन्न कार्यों को बांट देना, और उनमें से प्रत्येक का राज्य से प्रत्यक्ष संबंध बना रखना।

(७) राज्य-शासन में सैनिक विभाग की अपेक्षा अन्य विभागों को अधिक महत्व प्रदान करना।

(८) ब्राह्मण, प्रभू और मराठों को राज्य के छोटे-बड़े सब कार्य यथानियम सौंप कर पारस्परिक प्रेम रखने की शैली।

शिवाजी के पश्चात् महाराष्ट्र-साम्राज्य का विस्तार 'स्वराज्य' की सीमा के बाहर इतना अधिक फैल गया कि पूर्व की ओर कटक तक का प्रदेश, पश्चिम की ओर काठिया-वाड़, उत्तर में दिल्ली और दक्षिण में तंजोर तक का सारा

प्रदेश उसमें आ गया था। ऐसी दशा में, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, शिवाजी की शासन-प्रणाली की कुछ बात पूर्ववत् ही जारी रखना सम्भव नहीं था। शिवाजी के राज्य में, अर्थात् महाराष्ट्र में, राजा, प्रजा, सैनिक और अधिकारी एक ही जाति के थे। इसके अतिरिक्त ये सभी लोग राजभक्ति के भाव से एक रूप बन गये थे। परन्तु वह दशा फिर उसी प्रकार की नहीं रही; क्योंकि राज्य का विस्तार भारत के अन्य दूर दूर के प्रदेशों में भी हो गया। ऐसी दशा में जित लोग विजेताओं से सभी बातों में भिन्न पड़ गये, और सेना में भी सिर्फ वेतन-भोगी लोगों की ही भर्ती विशेष होने लगी। अतएव उनके मन में सैनिक अधिकारी अथवा राजा के प्रतिनिधि के विषय में अधिक प्रेम और पूज्यभाव नहीं रहा। इसीसे, यदि शिवाजी की उक्त प्रणाली का भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचार न हुआ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहाड़ी प्रदेश और उसके आसपास के अन्य प्रदेशों का महत्व तो केवल महाराष्ट्र ही के लिये था। गुजरात अथवा मालवा के सपाट प्रदेशों में तथा महाराष्ट्र के पूर्वीय भाग में उक्त राज्य-प्रणाली की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं था। इसी प्रकार जमीन का कर सरकार के द्वारा ही वसूल करने, तथा जमींदार और रैयत का स्वत्व छीन लेने, की प्रथा का भी उन दूर दूर के प्रांतों में प्रचार नहीं हो सकता था, क्योंकि वह प्रथा उन प्रांतों की प्राचीन राज्यशासन-प्रणाली के बिलकुल विरुद्ध थी। अब इस प्रकार की बातों में शिवाजी की प्रथा का उल्लंघन करने के लिए उनके उत्तराधिकारी शासक दोषी नहीं कहे जा सकते। तो भी, उक्त बातों के अतिरिक्त, अन्य

बातों का अनुकरण न करने की उन्होंने बड़ी भारी भूल की। इसमें सन्देह नहीं। उक्त भूल का मुख्य कारण यही है कि, उनके उत्तराधिकारियों में से किसी को भी शिवाजी की शासनप्रणाली की उपयोगिता नहीं देख पड़ी, और प्रत्येक ने अपने समय की सुविधाओं के अनुसार, राज्यशासन में मन-माने परिवर्त्तन किये, जिससे उस सगठित राष्ट्र में कुप्रबंध और गड़बड़ी फैल गई, और वह इतना अधिक डगमगा गया कि, पहले ही संकट से उसके नष्ट हो जाने के चिन्ह दिखाई देने लगे।

शाहू महाराज के शासन-काल में अष्टप्रधानों के द्वारा राज्यशासन चलाने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु ज्यों ही पेशवाओं ने अन्य कर्मचारियों का प्रभाव कम करके अपना महत्व बढ़ाया, त्यों ही यह प्रथा कम होने लगी, और अंत में पूना में पेशवा की गद्दी स्थापित हो जाने पर वह बिलकुल ही नष्ट हो गई। शाहू महाराज के अनंतर पेशवा पद के नीचे-वाले दो अधिकारियों—पंत-अमात्य और पंत-सचिव—का तो बिलकुल ही लोप होगया और वे केवल मराठी दरबार के जागीरदार ही हो गये। पेशवा ने उनके स्थानों पर अन्य लोगों को भी नियत करने की चिंता नहीं की और न उनमें वैसा करने की हिम्मत ही थी। फलतः वे ही सब कार्यों के अधिकारी बन बैठे। वे स्वयं ही सेनानायक, आयव्यय के मंत्री और पर राष्ट्रीय मंत्री के कार्य करने लगे। इस प्रकार सारा शासन-भार जब एक ही व्यक्ति पर आ गया, तब यदि राष्ट्र में शिवाजी की प्रणाली का कुछ बल न रहा, तो इसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं।

शिवाजी के आदर्श का अनुकरण न करके, राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों के पद वंशपरम्परा के लिए कायम रखने की प्रथा का अवलम्बन करके भी उनके वंशजों ने बड़ी भारी भूल की। पेशवा का ही पद जब वंशपरम्परा के लिए कायम हो गया, तब अन्य कर्मचारियों की भी वैसी ही दशा हो जाने में कोई आश्चर्य नहीं है। इसका कोई नियम नहीं कि पिता की कर्तव्य-परायणता और बुद्धि वंशपरम्परागत-रूप से पुत्र में भी पाई जाय। अतएव कई अधिकार कर्तव्यभ्रष्ट और अयोग्य लोगों के हाथ में चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र का धीरे धीरे पतन होने लगा। पेशवाओं की चार पीढ़ी तक तो आनुवंशिक स्वत्व के तौर पर उनकी शक्ति कायम रही, पर अन्य अधिकारियों में तो यह बात भी नहीं पाई गई। कई छोटे छोटे अधिकारियों ने अपनी कर्तव्य-परायणता के बल पर बड़ी योग्यता प्राप्त की, पर वे प्रधान-मंडल में सम्मिलित नहीं किये गये। उदाहरणार्थ, नाना फड़नवीस केवल फड़नवीसी का कार्य करनेवाले अधिकारी थे और मुख्य प्रधान बनने की उनकी महत्वाकांक्षा थी। इसी प्रकार महादजी सेंधिया दूसरी श्रेणी के सरदार थे, पर वे अपने पराक्रम के बल पर, अपने सम सामयिक लोगों में बड़े बलवान् समझे जाते थे, फिर भी उक्त दोनों पुरुषों, और उन्हीं के समान अन्य लोगों, का भी प्रधान मंडल में प्रवेश नहीं हो सका था। साथ ही वे एक दूसरे को, अपने अधिकार के बल पर, या कपट से, नीचे गिराने का भी प्रयत्न करने लगे थे। सेना के बड़े बड़े अधिकारी सेनापतियों ने भी अपने प्रांतों में ही स्वतंत्र राज्य स्थापित करना आरंभ कर दिया था। यही नहीं, बल्कि

वे अपनी इच्छा के अनुसार अन्यों के साथ सन्धि और विग्रह भी करने लगे थे। अष्टप्रधानों के द्वारा राज्यशासन करने की प्रथा में, समय और परिस्थिति के अनुसार, कुछ परिवर्तन अवश्य किया जा सकता था, परन्तु शिवाजी के अनन्तर, दो ही पीढियों के शासन-काल में, जो वंशपरम्परागत प्रथा का अवलम्बन किया गया, वह यदि न किया जाता, तो उपर्युक्त अनिष्ट दशा बहुत कुछ बच सकती थी।

शिवाजी का यह सिद्धान्त था कि अपने पराक्रम के बल-पर बड़े बड़े प्रदेश जीतनेवालों को भी वे देश जागीर में न दिये जायँ। परन्तु उनके बादवाले शासकों ने इस सिद्धान्त की अवहेलना करके भी बड़ी भारी भूल की। हा, शाहू के राज्यासीन होने के पूर्व जो घटनाएँ हुईं, उनसे वे अवश्य ही उक्त सिद्धान्त का उल्लंघन करने के लिये बाध्य हो गये थे, क्योंकि संभाजी की मृत्यु के अनन्तर प्रायः सारा महाराष्ट्र फिर से मुगलों के अधीन हो गया था, और उनके भाई राजाराम तथा उनके सहायक मन्त्रिमंडल को दक्षिण की ओर चल देने के लिये बाध्य होना पड़ा था। अवश्य ही उन्हें स्वराज्य स्थापित करने का कार्य पुनः आरंभ से ही करना था। अतएव उस समय जो लोग अपने पराक्रम के बल पर प्रसिद्ध हुए, उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार ही रखना आवश्यक था। अर्थात् इस विषय में राजाराम या उनके मंत्रियों पर उक्त दोष मढ़ना ठीक न होगा। इसके सिवाय, राजाराम के समय की कठिन परिस्थिति शाहू महाराज के शासनकाल के आरंभ तक कायम थी। परन्तु जब महाराष्ट्र की राजगद्दी पर शाहू के

आसीन हो जाने पर, राज्य को बढ़ाने के लिये, मराठों ने अन्य प्रदेशों पर चढ़ाई करना आरंभ किया, तब जागीर देने की प्रथा के प्रतिबन्ध करने का अच्छा मौका था। परन्तु उस समय भी प्रत्येक शूर सरदार को अपने पराक्रम से प्रदेश जीत कर जागीर प्राप्त करने का अवसर दिया ही गया। इस लिए वास्तव में यह कहने में बिलकुल अत्युक्ति नहीं होगी कि, उक्त भूल इसी समय की गई। पिलाजी और दमाजी गायकवाड़ गुजरात प्रदेश के राजा बन बैठे, नागपुर के भोंसले अपने ही प्रांत में बलवान हो गये, तथा संधिया, होलकर और पवारों ने भी मालवा प्रदेश, और उत्तरीय भारत में अपने अपने राज्य स्थापित कर लिये। ये सरदार अपनी जागीरों के बदले में कुछ कर स्वरूप महाराष्ट्र के मुख्य अधिकारी पेशवा को दे देते थे; और सितारे की गद्दी का प्रधानत्व नाममात्र ही के लिये रह गया था। उक्त जागीरें जब वंशपरंपरा के लिये कायम हो गईं, तब महाराष्ट्र की सुव्यवस्थित शासन प्रणाली में पूर्णतया धक्का पहुँचा। जिन लोगों ने अपने पराक्रम से वे जागीरें प्राप्त कीं, वे तो बड़े स्वामि-भक्त बने रहे, पर उनके वंशज अपनी जागीर में पेशवा या सितारेवालों का हस्तक्षेप करना पसंद नहीं करते थे। इस प्रकार, शिवाजी के उपर्युक्त सिद्धान्त का उल्लंघन ही महाराष्ट्र के नाश का मुख्य कारण हो गया।

जिले या गावों के जमींदारों की सहायता न लेते हुए भूमिकर वसूल करने की शिवाजी की प्रथा का तो उनके वंशजों ने भी अनुकरण किया था; और पेशवाओं के शासन-

काल, अर्थात् नाना फडनवीस की मृत्यु तक, ठेके से वसूल करने की प्रथा का अवलंबन नहीं किया गया। परन्तु अंतिम पेशवा बाजीराव के शासन-काल में तो उक्त प्रथा का महाराष्ट्र में भी प्रचार हो गया। मालवा, गुजरात और उत्तरी भारत के मराठों के प्रदेशों में तो ठेके की प्रथा का प्रचार पहले ही था। इसका मुख्य कारण यही था कि उस ओर मराठों के राज्य की जड़ पूर्णतया दृढ़ नहीं हो पाई थी। अस्तु। केवल उक्त प्रणाली में ही शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने उनका भली भांति अनुकरण किया। परन्तु मराठे, ब्राह्मण और प्रभु, इन तीन जातियों में राज्य के अधिकार बांटने के विषय में शिवाजी ने जो प्रथा प्रचलित की थी, उसका तो उनके उत्तराधिकारी शासकों ने बिलकुल ही अनुकरण नहीं किया। शिवाजी के शासन-काल में जिस प्रभु जाति के वीरों ने अपूर्व कार्य किये थे, उसके वंशजों का तो बालाजी बाजीराव पेशवा के शासन काल से बिलकुल ही अभाव हो गया। केवल सखाराम हरि नामक प्रभु जाति का एक ही वीर रघुनाथराव पेशवा की सेना में बड़ा कर्मचारी था, और उसी का नाम उस समय के इतिहास में दिखाई पड़ता है। हां, बड़ौदा और नागपुर के राज्यों में इसी जाति के लोगों को राज्यशासन और सैनिक प्रबंध के कार्य सौंपे गये थे। कहा जाता है कि शिवाजी के समय में कोकणस्थ ब्राह्मणों का नाम भी नहीं सुन पड़ता था, परन्तु बखर लेखकों का कथन है कि उन्होंने तीनों विभागों के ब्राह्मणों को सूबेदार अथवा किले के सेनापति का पद दिया था। शिवाजी, और उनके पुत्र संभाजी तथा राजाराम के शासन काल में देशस्थ ब्राह्मणों ने बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये थे। पर शाहू के शासनकाल में

पेशवा के महत्व प्राप्त कर लेने पर वह स्थिति बिलकुल पलट गई। बाद का जब राघोबा दादा और माधवराव पेशवा के बीच झगड़े होने लगे, तब मुख्यतः देशस्थ जागीरदारों ने ही राघोबा का पक्ष लिया। उस समय से पेशवा के राज्य में देशस्थों का महत्व बिलकुल कम हो गया।

यदि सैनिक पदों के विषय में देखा जावे तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे केवल मराठों के ही अधिकार में थे। हां, सेना के अधिकांश कर्मचारी और सैनिक अवश्य ही मराठा जाति के थे। मराठे सरदारों की भांति शिवाजी के ब्राह्मण सरदार बड़े पराक्रमी थे, और पहले पेशवा के शासन-काल तक वही दशा कायम रही। मराठों के अत्यंत बलवान सेनापति तो पहले बाजीराव पेशवा के ही निरीक्षण में तैयार हुए थे। बाजीराव के बड़े बड़े मराठे योद्धा सरदारों ने दूर दूर के प्रदेशों में स्वतंत्र राज्य स्थापित किये, और जब सितारे की गद्दी को भी हिला देने योग्य उनका प्रभाव बढ़ गया, तब पेशवा ने, उनसे सामना करने के लिये, दक्षिण में ब्राह्मण सरदार बनाने की राजनैतिक चाल का अवलंबन किया, और उसी समय से पटवर्धन, फडके, रास्ते, गोखले आदि घरानों के ब्राह्मण वीर प्रसिद्ध हुए; पर वे युद्ध-कला-निपुण सिंधिया और होल्कर की सेना का कभी सामना नहीं कर सके। अवश्य ही इस प्रकार मराठों में पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो गया, और अन्य कारणों के साथ महाराष्ट्र साम्राज्य के नाश होने का यह भी एक कारण हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश-साम्राज्य-सत्ता से सामना करने के पूर्व मराठी राज्य में जो निर्बलता आ गई थी, और उसका जो पतन होना आरम्भ हो गया था, उसका मुख्य कारण यही था कि शिवाजी के उत्तराधिकारी शासकों ने उनकी राज्यपद्धति का अनुकरण नहीं किया। बाद को जब महाराष्ट्र में ब्रिटिश-शासन स्थापित हो गया, तब अँगरेजों ने उस समय की प्रचलित शासन-प्रणाली का त्याग ही कर दिया, और बड़ी बुद्धिमानी से, शिवाजी के नियमों का अनुकरण किया। उन्होंने सैनिक विभाग अन्य विभागों से अलग रखा, और अन्य विभागों की तरह सैनिक विभाग के महत्व को नहीं बढ़ाया। साथ ही सैनिक अथवा अन्य किसी कार्य के बदले जमीन-जायदाद देने की प्रथा को बन्द कर दिया, और अपने नौकरों को वेतन देने का ही नियम स्वीकार किया। वे छोटी-बड़ी सरकारी नौकरियों के विषय में वंशपरम्परा-प्राप्त अधिकार को बिलकुल नहीं मानते। राज्यशासन का कार्य भी, किसी एक ही पुरुष पर न सौंप कर, मंत्रि-मंडल पर सौंपा गया है। जमींदार अथवा किसानों से ज़मीन का कर ठेके की प्रणाली से वसूल न करके सरकारी कर्मचारियों के ही द्वारा लिया जाता है। प्रजा में से प्रायः सभी जातियों के लोगों को, उनकी योग्यता के अनुसार, सरकारी नौकरियाँ देने की व्यवस्था की गई है। अतः उपर्युक्त राजनैतिक तत्वों का अनुकरण करने ही के कारण इने गिने अंग्रेज इस समय भारत जैसे विस्तृत राष्ट्र का शासन ऐसी उत्तमता-पूर्वक कर रहे हैं कि, उनकी राज्य शासन-प्रणाली का निरीक्षण करनेवाले देशी और

विदेशी लोग भी उनकी अपूर्व-शासन-पद्धति को देखकर, चकित हो जाते हैं। इस प्रकार शिवाजी की आयोजित शासन-प्रणाली की उपयोगिता केवल उनकी सफलता ही से नहीं, वरन् उन लोगों की सफलता से भी प्रकट होती है कि, जिन्होंने अपनी सत्ता उस साम्राज्य पर स्थापित की है कि जिसे शिवाजी ने सङ्गठित करने का प्रयत्न किया था, और जो उनके आदर्श पर न चल सकने के ही कारण पतनावस्था को प्राप्त हुआ।

प्रकार मराठों को राजनैतिक स्वतन्त्रता किसी एक ही पुरुष के प्रयत्न से, अथवा एक ही शताब्दी में, नहीं मिली, उसी प्रकार मराठों की धर्मोन्नति में भी बहुत सा समय लगा था; और कई साधु-महात्माओं के उपदेशों से उस कार्य की पूर्ति हुई थी। मुसलमानों के द्वारा महाराष्ट्र के हस्तगत किये जाने के पूर्व ही धार्मिक सुधार का कार्य आरम्भ हो गया था। जब देवगिरि में जाधव राजा राज्य करते थे, तभी साधु ज्ञानेश्वर जी ने श्रीभगवद्गीता पर प्रसिद्ध टीका 'ज्ञानेश्वरी' मराठी में लिखी थी। बल्लाल राजा के समय मुकुंदराज नामक प्रसिद्ध कवि हुए, और उसी समय उन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथ 'विवेकसिंधु' लिखा। बारहवीं शताब्दी में जितने मराठी ग्रंथ लिखे गये, उन सब में मुकुंदराज का ग्रंथ सर्वोत्तम है। जब मुसलमानों की चढ़ाइयां होने लगीं, तब धार्मिक जागृति का कार्य रुक गया, पर कुछ समय बाद महाराष्ट्र जनों का बुद्धिचातुर्य फिर उत्तेजित हुआ। महाराष्ट्र-साम्राज्य के उदय के समय में तो वहां साधु-परंपरा चारों ओर फैल गई थी। इस प्रकार यह कार्य लगभग ७०० वर्ष तक उन्नत ही होता गया, पर धीरे धीरे उसका भी पतन होने लगा, और उसके अंत होने के साथ ही मराठों की राजनैतिक स्वतन्त्रता भी नष्ट हो गई। अत यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि महाराष्ट्र में धर्म-जागृति का कार्य लगभग ५०० वर्ष तक होता रहा। इस अवधि में लगभग ५० साधु पुरुष उत्पन्न हुए, और उन्होंने सारे महाराष्ट्र पर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर दिया। अतः यदि उन साधु-महात्माओं के उक्त प्रभाव को देख कर ही महीपति को उनके चरित्र लिखने की स्फूर्ति हुई

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उनमें से आधे से भी अधिक साधु ब्राह्मणेतर अर्थात् अन्य जातियों के थे। कोई तो बिलकुल ही नीचे की श्रेणी के थे। ब्राह्मण सुधारकों में से कई लोगों की वंशपरम्परागत शुद्धता कलङ्कित हो गई थी, जिससे वे कृत्रिम रुकावट का निषेध करने के लिये तैयार हो गये थे। ज्ञानदेव, उनके भाई और बहन मुक्ताबाई का जन्म तो उनके पिता के सन्यासी बन जाने पर हुआ था। जब उनके गुरु रामानंद को मालूम हुआ कि सन्यास-धर्म की दीक्षा लेने के लिए उनकी पत्नी की सम्मति नहीं थी, तब उन्होंने ज्ञानदेव के पिता को, अपने ग्राम में वापस जाकर, पत्नी के पास रहने की आज्ञा दी। इस प्रकार उस सन्यासी की संतति को सभी जाति के लोगों ने बिलकुल ही नीच जाति में समझा, और सब लोग उनसे घृणा करने लगे। ब्राह्मणों ने योग्य समय पर उनके यज्ञोपवीत संस्कार का भी निषेध किया। वे बालक जीवन भर उस अज्ञात स्थिति में ही रहे, पर लोग उनकी जातिहीनता की ओर ध्यान न देकर उलटे उनका आदर ही करने लगे। दूसरे महात्मा मालोपंत का तो एक नीच जाति की स्त्री के ही साथ विवाह हुआ था। उसके विवाह होने के समय तक तो किसी को भी उसकी जाति का पता नहीं चला, पर पति ने उसका त्याग न करके उसके साथ केवल व्यवहार रखना ही छोड़ दिया और जब, उसकी मृत्यु के अनंतर, वे प्रचलित प्रथा के [illegible]सार उसका अंतिम संस्कार करने लगे, तब एक अत्यंत चमत्कार दिखाई दिया, जिससे उनके कट्टर शत्रुओं [illegible] हो गया कि वे दोनों जन्मकाल ही से

परन्तु कुछ काल बीत जाने पर वे पादरी अपने को धर्म सेवक न समझ कर स्वामी, राज्यशासक, ऐहिक और पारमार्थिक शक्तियों के अधिष्ठाता तथा ईश्वर और मनुष्यों के बीच में अपने को मध्यस्थ मानने लगे। उस मध्यस्थता का उन्होंने अनेक धार्मिक व्यवहारों और संस्कारों में उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ काल बीत जाने पर बहुतसी कुप्रथाओं का प्रचार हो गया, और उनपर लोगों की जो पहले श्रद्धा थी, वह नष्ट हो गयी। कपट-विद्या में चतुर पोप और उनके व्यसनाधीन कार्डिनल्स (मार्गोपदेशकों) के भौतिक प्रभाव की रक्षा के लिये, कर्मचारियों ने कर के रूप में–धर्मादाय के रूप में नहीं–'पीटर्स पेन्स' लेना शुरू किया, और इन्डलजन्सीज (दान के आदेशपत्र) प्रकाशित किये। लूथर ने उन अधिकारियों के विरुद्ध जब आवाज़ उठाई थी, उस समय तो उस कुप्रथा का अत्यंत उग्र स्वरूप हो गया था। पश्चिमीय भारत के धार्मिक सुधार भी लूथर के यूरोपीय धार्मिक सुधारों के ही स्वरूप के थे। भारत में प्राचीन अधिकार और प्राचीन सम्प्रदाय, महत्वाकांक्षी बिशप और क़र्जियों में नहीं, वरन् ब्राह्मण जातियों में ही दृढ़ता से स्थित हो गये थे, और यहां के साधु-महात्मा बड़े धैर्य से ब्राह्मण जाति की उक्त प्रभुता के विरुद्ध लड़ रहे थे। वे इस बात का प्रतिपादन करते थे कि मनुष्य के आत्मा की उच्चता उसके किसी खास कुल में जन्म लेने या किसी खास सामाजिक स्थिति पर ही अवलंबित नहीं है। उक्त सिद्धांत का अनुभव करने में इन धर्मोपदेशकों को अपने जीवन क्रम और अपनी शिक्षा से ही सहायता मिली थी।

व्रत रखते हैं, और मक्का तथा पढरपुर की यात्रा भी करते हैं। कबीर, नानक और माणिक प्रभु जैसे महाप्रसिद्ध साधुओं को भी हिन्दू और मुसलमान, जाति के लोग समान भाव से ही पूज्य मानते हैं। इन उदाहरणों से ज्ञात हो जावेगा कि उक्त साधुओं के चरित्र से मनुष्यों का पारमार्थिक स्वभाव बड़ा ही उदार बन गया है। और जाति-बन्धन भी बहुत कुछ ढीले हो गये हैं।

उक्त उदार शिक्षा का यह परिणाम हुआ है कि उससे धर्म-विषयक बातों में जाति महत्व का बिलकुल ही विचार नहीं रह गया है। हा, सामाजिक विषयों में तो उसका महत्व अवश्य हा है, पर वह भी बहुत ही कम है। दक्षिणीय भारत के ब्राह्मण और उनके जाति-विषयक विचित्र विचारों से यदि महाराष्ट्रीय लोगों के विचारों से तुलना की जावे, तो हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो सकती है। दक्षिणी भारत में यदि ब्राह्मण के मार्ग से चाडाल चला जावे, तो उसकी परछाईं से भी वह मार्ग अपवित्र हो जाता है; अत उसकी परछाईं से भी वहा घृणा की जाती है। पर महाराष्ट्र में यह बात नहीं पाई जाती। वहा बड़ी बड़ी धार्मिक यात्राओं में अन्तिम दिन पर जो 'गोपालकाला' नामक प्रसाद-ग्रहण होता है, उसमें सब जाति के लोग समान रूप से आनन्द-पूर्वक साथ ही प्रसाद ग्रहण करते हैं। यूरप की तरह भारत के इस भाग से भी प्राय वह विचार जाते रहे कि, इश्वर और मनुष्य के बीच में, पुजारी ही एक मात्र प्राप्ति करा देनेवाला आवश्यक साधन है। अथवा ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता इश्वर-निर्मित ही है; अतः अन्य जातियों को उसकी सेवा और पूजा करना ही

यही इच्छा रहती है कि उस पर प्रीति और भक्ति हो। इतना ज्ञान पर वह उसकी जाति के विषय में कोई विचार नहीं करता।" पर इस उच्च ज्ञानोपदेश का उन हठी ब्राह्मणों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। साधु चोखामेला पर उन्होंने वहां के मुसलमान कर्मचारी के पास नालिश कर दी, और उसने, बाइबल के 'पायलेट' की भांति, चोखामेला को बांध कर बैलों के द्वारा खिंचवाते हुए मार डालने का दण्ड सुनाया। परन्तु ईश्वर ने बड़ी चमत्कारपूर्ण घटना से उन्हें उस संकट से छुड़ाया, और उन अत्याचारी ब्राह्मणों को निराश किया। बैल अपने स्थान पर से तनिक भी नहीं हट सके। इसी प्रकार बहिराम भट्ट की कथा भी बड़ी आश्चर्य-जनक है। वे शास्त्री थे, पर उन्हें जब सनातनधर्म में शांति न मिली, तब उन्होंने, एकेश्वरी मत से अपने अन्तःकरण को सतुष्ट करने के लिए मुसलमान धर्म को स्वीकार किया। पर उस दशा में भी, इच्छित शांति न मिल सकने के कारण उन्होंने फिर से सनातन-धर्म में प्रवेश किया। जब ब्राह्मण और मुसलमान दोनों जातियां धार्मिक परिवर्तन के कारण उन्हें दोष देने लगीं, तब उन्होंने अपने को हिन्दू और मुसमलान कहना भी छोड़ दिया। बहिराम भट्ट ने ब्राह्मणों से कहा कि मैं मुसलमान बन गया हूं, और मेरी मुसलमानी भी की गई है, अतः यदि मुझे ब्राह्मण बनाना चाहते हो तो बनाओ। इसी प्रकार मुसलमानों से कहा कि मेरे कान में जो छेद है, उन्हें नष्ट कर दो। जब तक वे नष्ट न हो जावें, मैं मुसलमान नहीं हूं वरन् हिन्दू हूं। हिन्दू धर्म को स्वीकार किये हुए मुहम्मदी लोग शेख मुहम्मद के अनुयायी कहलाते हैं। वे लोग रमजान और एकादशी को

ऊपर बहने लगा, और मुसाफिरों को अनायास ही खूब पानी मिलने लगा। इन उदाहरणों से महाराष्ट्रीय साधु-महात्माओं की शिक्षा का महत्त्व बड़ी मनोरञ्जकता के साथ मालूम हो जाता है।

कान्होबा पाठक की भी एक कथा बड़ी प्रसिद्ध है। उनका अपने पुत्रों पर अत्यंत प्रेम था। काशी के एक ब्राह्मण को उनका यह आचरण अच्छा नहीं मालूम हुआ, और उसने इस विषय में उनका निषेध किया। अतएव कान्होबा ने अपने पुत्र को उठा कर एक कुएँ में डाल दिया, और उन्हें कुछ भी पश्चात्ताप नहीं हुआ। इस घटना को देख कर वह ब्राह्मण अत्यंत आश्चर्य चकित हुआ। इस उदाहरण से यह मालूम होता है कि कोरा ब्रह्मचर्य व्रत भी व्यर्थ ही है। कोरे ब्रह्मचर्य से मन की समता का अभ्यास नहीं होता; और सुख-दुख के विषय में उदासीनता भी उत्पन्न नहीं होती। एकनाथ तो आजीवन अपने कुटुम्बियों में ही रहे। यही दशा तुकाराम और नामदेव की भी थी। हां, यह बात अलग है कि उनके दुर्भाग्य से उन्हें एकनाथजी की धर्मपत्नी के समान स्त्रियां नहीं मिली थीं। इसी प्रकार बोधलेबावा, चोखामेला, दामाजीपंत, भानुदास, छांवों कुम्हार साधु और अन्य भी कई साधु अपने कुटुम्ब ही में रहते थे। ज्ञानदेव के पिता ने अपनी पत्नी के परामर्श के बिना सन्यास लिया था; अतः उनके गुरु, रामानंद ने, उन्हें फिर से अपने घर को लौट कर अपनी पत्नी के साथ जीवन बिताने की आज्ञा दी थी। उक्त सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि उस समय के साधु महात्माओं को गृहस्थाश्रम की पवित्रता अच्छी तरह से ज्ञात थी। प्रायः लोगों में यह एक भ्रम फैला रहता है

चाहिए। इन विचारों के न रहने के साथ ही साथ अब सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों का प्रायः यह विश्वास हो गया है कि, हीन जाति में जन्म लेने पर भी ईश्वर पर दृढ़ भक्ति और प्रेम रखने से मोक्ष-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

इसके अतिरिक्त यूरोप के सुधारकों को यह पसन्द नहीं था कि मठ-स्थापना की जाय, और पादरी लोग अविवाहित रहें, तथा स्त्रियों को, सृष्टि-नियम के विरुद्ध, संसार से अलिप्त रह कर सन्यासी का भेष दिया जाय। ठीक इसी प्रकार महाराष्ट्र के भी सभी साधु महात्माओं को व्रत उपवासादि करके शरीर को कष्टित करने, व्यर्थ तप करने और आजीवन यात्रा करते रहना पसंद नहीं था। इसी प्रकार उनको यह भी पसन्द नहीं था कि, योग-साधन करने से चूंकि योगियों को अद्भुत चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त होती है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये अत्यंत कठोर नियमों और व्रतों का पालन करके शरीर को कष्टित किया जाय। वल्कि इसके स्थान पर महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं ने भक्ति ही को प्रधानता दी है। भक्ति और योग की स्पर्धा का सब से अच्छा उदाहरण तो घमंड में मस्त बने हुए चांगदेव और ज्ञानदेव का मिलाप है। एक बार चांगदेव अपनी योग-शक्ति के बल से व्याघ्र पर बैठ कर और सांपों का कोड़ा अपने हाथ में लेकर ज्ञानदेव से मिलने गये। ज्ञानदेव ने एक दीवार पर बैठ कर उसे चला दिया, अतएव चांगदेव का घमंड चूर हो गया। इसी प्रकार ज्ञानदेव ने, योग शक्ति के बल पर, छोटा सा शरीर धारण करके एक गहिरे कुएँ का सारा पानी पी लिया, अतएव नामदेव ने अपनी भक्ति के बल पर उस कुएँ में इतना पानी भर दिया कि वह

यूरोप के सुधारकों ने उस कष्ट-दायक बड़प्पन और दासता से राष्ट्रीय बुद्धि को मुक्त कर दिया। यूरोप का इतिहास पढ़ने वालों को उन सुधारकों की स्थायी सफलता का भली भांति ज्ञान है। उन सुधारकों की ही सहायता से उच्च नीच लोगों को बाइबल के पढ़ने में कोई असुविधा नहीं रही। उस समय तक विद्यादान का अधिकार केवल धर्माधिकारियों के ही हाथ में था। परन्तु उक्त प्रथा से उनके अधिकार कम हो गये। भारत में भी ठीक उसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। जब साधु महात्माओं ने अपनी भाषा में ही ग्रंथ लिख कर, और कथा-कीर्तन करके, लोगों को उपदेश देना प्रारंभ किया, और स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण शूद्र, आदि सब लोगों के लिए जब बड़ी उदारता के साथ गुप्त ज्ञान-भांडार खोल दिया गया, तब प्राचीन सम्प्रदायवाले पंडितों को अत्यंत आश्चर्य हुआ। परन्तु उन पर विजय प्राप्त करने में उन साधु-सन्तों को बहुत से कष्ट और दुःख उठाने पड़े। सब से पहले ज्ञानदेव ने ही उक्त मार्ग का अवलम्बन किया, और फिर एकनाथ, रामदास, नामदेव, तुकाराम, वामन पंडित, मुक्तेश्वर, श्रीधर, मोरोपंत आदि ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। अंतिम चार पुरुष धर्मगुरु की अपेक्षा ग्रंथ-लेखक और कवि के ही नाते विशेष प्रसिद्ध हैं, तो भी उनकी कविता स्फूर्ति का मूल कारण उक्त महात्मा लोग ही हैं।

यद्यपि बाइबल की तरह वेदों और शास्त्रों का अनुवाद उन्हों-ने अपनी भाषा में, नहीं किया, तथापि इसका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कारण है। उनको ज्ञात था कि, बुद्ध की धर्मक्रांति के कारण वेदों और शास्त्रों की अपेक्षा रामायण, महाभारत,

कि गृहस्थी का त्याग कर देने से जगत में दुःख अथवा चिन्ता का नाम-निशान तक न रहेगा, इस भ्रम को दूर करके लोगों को सच्चे मार्ग पर लाने का उन सन्त-महात्माओं ने यथाशक्ति खूब प्रयत्न किया। साधु स्त्रियों के चरित्र तो इनसे भी अधिक मनःरञ्जक है। देवताओं में उनकी श्रद्धा और भक्ति बहुत ही अपूर्व थी, अतएव देवता उन्हें, उनके दैनिक कार्यों में भी, सहायता करते थे। जब कभी वे स्त्रियां धार्मिक कार्य के लिए घर से बाहर जाती, तो देवता स्वयं अनेक भेष धारण करके उनके घर पर उनके कार्य करते थे; जिससे घर के लोगों को उनके बाहर चले जाने के विषय में कोई आशंका न हो। इस प्रकार वे साध्वी स्त्रियां स्वच्छन्दतापूर्वक कथा कीर्तन और परमात्मा की भक्ति में अपना समय दे सकती थीं। इस प्रकार की अनेक आख्यायिकाएँ साध्वी स्त्रियों के चरित्रों में लिखी हैं। हां, इन कथाओं से कोई यह कह सकता है कि, तब तो परमात्मा की भक्ति बहुत ही सस्ती है, जब कि वह स्वयं आकर हमारे गृह-कार्य भी कर देता है। परन्तु हमारी सम्मति में इन आख्यायिकाओं का उच्च नैतिक भाव ही लेना चाहिये। वास्तव में इन साधु महात्माओं ने गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता भली भांति सिद्ध कर दी थी। प्राचीन वैराग्य प्रणाली पर सर्वसाधारण सदाचार और नीति के सिद्धान्तों की यह एक अपूर्व विजय समझना चाहिये।

प्राचीन काल में यूरोप में प्रायः सारे ग्रन्थ लेटिन भाषा में लिखे जाते थे, जिससे उस भाषा का महत्त्व बढ़ गया और लोगों को भी बड़ी कठिनाई प्रतीत हुई। साथ ही लोग प्राचीन पांडित्य की गुलामी से भी उकता उठे थे। परन्तु

प्रथा की ओर भी अधिक वृद्धि हुई। अंत में जब वहाँ के मूल निवासी जंगली लोग आर्यों में सम्मिलित हो गये, तब तो उनकी पत्थरों की पूजा का भी वहा पर प्रचार हो गया, और उन अनार्यों के देवता आर्य देवताओं से भिन्न गिने जाने लगे। परन्तु साधु महात्मा उक्त जंगली विचारों को कभी नहीं मानते थे। जब उन्हें मूर्तियों में देवताओं के गुण नहीं देख पड़े, तब वे मूर्ति पूजा का निषेध भी करने लगे थे। तुकाराम और रामदासजी ने भी उन जंगली मूल-निवासियों के देवताओं और उनकी भयंकर पूजा—होम हवनादि—का बहिष्कार किया था। भानुदास के चरित्र में लिखा है कि, एक बार विद्यानगर का राजा एक देवी की पूजा करता था। अतएव भानुदासजी ने राजा से कहा कि आपकी देवी पढरपुर में मेरे देवता का सेवा करती है, और झाड़ू लगाती है; तब राजा ने उनके कथनानुसार वहा जाकर देखा तो वह बात सत्य पाई। दो और सतों के चरित्रों में भी लिखा है कि, एक बार काली-देवी को मनुष्यों और पशुओं की बलि दी जाती थी, अत जब उस झूठ प्रथा को नष्ट करने के लिये सतों ने निषेध किया, तब देवी ने भी भयभीत होकर 'बलि न देने की आज्ञा दी'। इस कथन से ज्ञात हो जावेगा कि हमारे साधु-सतों ने भक्ति का प्रचार करने के लिए मूर्ति पूजा का किस प्रकार उपयोग किया। सच तो यह है कि जब तक उपर्युक्त विवेक को ध्यान में नहीं रखा जायगा, तब तक इस बात का पता नहीं चलेगा कि हमारे धर्मोपदेशक साधु महात्माओं का हमारी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हलचल से क्या सम्बन्ध था।

नागनाथ शिव की, जनार्दन स्वामी और नृसिंह सरस्वती दत्तात्रेय की, मोरया गोस्वामी और गणेश नागनाथ गणपति की पूजा किया करते थे। यदि वे साधु महात्मा किसी दूसरे देवता के देवालय में जाते, तो जिस मूर्ति की वे पूजा नहीं करते, उसके दर्शन भी नहीं करते थे। अतएव वह मूर्ति उनके इष्टदेव का भेष बनाकर उन्हें दर्शन दिया करती थी। इस प्रकार की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ साधु-महात्माओं के चरित्रों में लिखी हुई हैं। इन साधु महात्माओं में से प्रत्येक का विश्वास था कि सर्वव्यापी ईश्वर एक ही है। परन्तु वे किसी को उक्त सिद्धांत के विषय में आशंकाएँ वा वादविवाद नहीं करने देते थे। परन्तु यूरोप की तरह इस देश में मूर्तियों का भग कभी नहीं किया गया। हमारे साधुओं का तो यही विश्वास था कि हमारे पूजित ईश्वर के अनेक रूप अंत में एक ही देवाधिदेव ब्रह्म में मिल जाते हैं। लोग बहुत प्राचीन काल से उक्त बात पर विश्वास रखते है। यद्यपि वैदिक काल में इन्द्र, वरुण, मरुत् और रुद्र इत्यादि देवताओं की यज्ञ-यागादि में अलग अलग प्रार्थनाएँ का जाती थीं, तथापि वे सब एक ही सृष्टिकर्ता के विविध रू माने जाते थे। इसी सिद्धान्त के अनुसार साधु महात्माओं के मूर्तिपूजा का महत्व भी समझना चाहिए। वास्तव में उन साधु महात्माओं को मूर्तिपूजक कहना मानो उनके विचार औ भावों का विपर्यास करना ही होगा। वैदिक काल में मूर्तिपूज बिलकुल ही प्रचलित नहीं थी, परन्तु जब से अवतारों के विचा का आविर्भाव हुआ, तभी से उक्त प्रथा प्रचलित हुई है। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्धों की साधु-पूजा के कारण तो उस

प्रथा की और भी अधिक वृद्धि हुई। अंत में जब यहा के मूल निवासी जगली लोग आर्यों में सम्मिलित हो गये, तब तो उनकी पत्थरों की पूजा का भी यहा पर प्रचार हो गया, और उन अनार्यों के देवता आर्य देवताओं से भिन्न गिने जाने लगे। परन्तु साधु महात्मा उक्त जगली विचारों को कभी नहीं मानते थे। जब उन्हें मूर्तियों में देवताओं के गुण नहीं देख पड़े, तब वे मूर्ति-पूजा का निषेध भी करने लगे थे। तुकाराम और रामदासजी ने भी उन जगली मूल-निवासियों के देवताओं और उनकी भयंकर पूजा—होम-हवनादि—का बहिष्कार किया था। भानुदास के चरित्र में लिखा है कि, एक बार विद्यानगर का राजा एक देवी की पूजा करता था। अतएव भानुदासजी ने राजा से कहा कि आपकी देवी पढरपुर में मेरे देवता की सेवा करती है, और झाड़ू लगाती है, तब राजा ने उनके कथनानुसार वहा जाकर देखा तो वह बात सत्य पाई। दो और सतों के चरित्रों में भी लिखा है कि, एक बार काली-देवी को मनुष्यों और पशुओं की बलि दी जाती थी, अत. जब उस कुठ प्रथा को नष्ट करने के लिये संतों ने निषेध किया, तब देवी ने भी भयभीत होकर बलि न लेने की आज्ञा दी। इस कथन से ज्ञात हो जावेगा कि हमारे साधु-सतों ने भक्ति का प्रचार करने के लिए मूर्ति पूजा का किस प्रकार उपयोग किया। सच तो यह है कि जब तक उपर्युक्त विवेक को ध्यान में नहीं रखा जायगा, तब तक इस बात का पता नहीं चलेगा कि हमारे धर्मोपदेशक साधु महात्माओं का हमारी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हलचल से क्या सम्बन्ध था।

परन्तु हमारे देश के सुधारक साधु महात्माओं और यूरोप के तत्कालीन प्रोटेस्टेंट सुधारकों में एक बड़ा भारी अंतर देख पड़ता है। वैदिक काल से अब तक आर्यों के देवताओं में प्रीति, तेज, माधुर्य, प्रकाश आदि गुणों की ही कल्पना की गई है। हां, उनके वरुण, रुद्र जैसे प्रभावशाली और भय उत्पन्न करनेवाले देव भी थे, परन्तु साधारणतः ईश्वर के उत्तम गुणों का ही ध्यान और स्मरण करने की ओर लोगों की अभिरुचि थी। अरब के शेमिटिक लोगों की बात अलग है। उनके धर्म का यह भाव था कि, ईश्वर बहुत दूरी पर है, वह बड़ा उग्र स्वरूपवाला है, उसका वैभव सहज ही में नहीं दिखाई दे सकता, और यदि दिखाई भी दे, तो वह अस्पष्ट रूप ही में देख पड़ेगा। साथ ही वह मनुष्य को, उसके पाप के बदले, कठोर दंड देने वाला है। वह एक ऐसा न्यायाधीश है जो प्रसन्न होने के बदले दंड देने ही की ओर विशेष ध्यान रखता है। यदि वह अपने भक्तों पर प्रसन्न भी होता है, तो भी वह उन्हें भयभीत ही रखता है। परन्तु क्रिश्चियन धर्म ने ऐसे धार्मिक विचारों को स्थान नहीं दिया। इनके धर्म में ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर के ईसामसीह का अवतार लिया है, और मानवजाति के हित के लिये अनेक संकट सहकर, उनके पापों का स्वयं ही प्रायश्चित किया। ग्रीस, रोम या भारतवर्ष के आर्यधर्म को ऐसा करने की कभी आवश्यकता नहीं हुई। हमारे यहां तो ईश्वर को न्यायाधीश और शासक की अपेक्षा माता, पिता, भाई और प्राणप्रिय सखा ही के रूप में विशेषकर माना गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि, वह न्याय नहीं

करता या वह-शासक, नहीं, वरन् न्याय या दंड करते समय उसमें माता-पिता के सदृश प्रेम भी होता है। अर्थात् जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्रों को, अपराध करने और फिर उस पर पश्चात्ताप करने पर, क्षमा प्रदान करते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी करता है। इसी से साधु-महात्माओं के उपदेश और चरित्रों में परमेश्वर का जितना दयालु स्वरूप प्रकट किया गया है उतना कमठ ब्राह्मणों के विचारों से नहीं देख पड़ता। साधु-महात्मा, लोगों को विश्वास दिलाते हैं कि, हमें ईश्वर दिखाई देता है, हम उसकी बातें सुनते हैं, हम उससे बातचीत करते हैं, और वह हमसे सर्वदा मिलता रहता है। साथ ही वे कभी कभी यह भी कहा करते थे कि, ईश्वर कभी किसी से बातचीत नहीं करता; परन्तु वास्तव में जान पड़ता था कि, जिस प्रकार हमें किसी दृश्य वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर आनन्द होता है, उसी प्रकार ईश्वर के दर्शन से उन्हें भी आनन्द हुआ करता था। योगी और वेदान्ती लोग कहा करते हैं कि समाधि लगाने से उनका ईश्वर से तादात्म्य हो जाता है, परन्तु नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और ज्ञानदेव को अनेक प्रयत्न करके ईश्वर का थोड़ी देर तक दर्शन करना पसन्द नहीं था, वरन् वे ईश्वर के सदा सर्वदा अपने पास ही रहने का अनुभव करते थे; और इस प्रकार प्रति दिन के दर्शन से उन्हें जो आनन्द होता था, उसे वे योगी वेदान्ती के ब्रह्मानन्द से भी अधिक बतलाते थे। उन सन्तों के चमत्कार-पूर्ण कार्यों पर हमारा विश्वास चाहे भले ही न हो, पर उनके उक्त कथन पर तो हमें विश्वास रखना ही होगा। क्रिश्चियन-मतानुयायी देशों में ईसामसीह के जन्म

और मृत्यु के विषय में जितना प्रेम और आनन्दभाव प्रकट होता है उतनाही, वरन् उससे भी अधिक, आनंद और प्रेम भाव अन्तःकरण में प्रतिदिन ईश्वर का दर्शन करने से होता है। हमारे साधु-महात्माओं का यही एकमात्र वैभव था। और सभी उच्च-नीच लोग, स्त्री और पुरुष आजन्म शान्ति-प्रदायक एकमात्र इसी अमूल्य वस्तु का सञ्चय करते थे।

ईश्वर और मनुष्य के इस संबंध का यह परिणाम हुआ कि, ईश्वर-विषयक-ज्ञान-प्राप्ति के लिये, लोग भक्ति को ही मुख्य साधन समझने लगे। यहां तक कि वैष्णव लोग तो भक्ति ही को अपने धर्म का मुख्य आधार समझने लगे। महीपति-लिखित सम्पूर्ण सन्त-चरित्रों में बाह्य पूजा और उनके सब विधि-विधान तीर्थ-यात्रा, तीर्थ स्नान, आत्मनिग्रह, उपवास, विद्यार्जन, ध्यान इत्यादि सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति-भाव और श्रद्धा को ही अधिक महत्व दिया गया है। उक्त साधनों का तो केवल शरीर और मन से ही सम्बन्ध होता है, पर भक्ति का सम्बन्ध ठेठ ईश्वर से ही होता है। परमात्मा भाव का भूखा है। जिस प्रकार भोजन, पान, निद्रा इत्यादि कार्य स्वाभाविक होने के कारण, अनायास हुआ करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त सब विधि विधान भी सहज ही हो सकते हैं। अर्थात् आत्मा का उनसे कोई संबंध नहीं है। परन्तु जब हमारी सारी इन्द्रियां, हमारे सारे शरीर को भीतर और बाहर से व्याप लेनेवाले ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करके उस ब्रह्मानन्द के समुद्र में स्नान करती हैं, तभी हमारा श्रेष्ठ तीर्थ-स्नान होता है। ईश्वर की इच्छा के हम पालने वाले हैं, हम सर्वथा ईश्वर के ही अधीन हैं, हमारा अपना

कुछ भी नहीं है। यही निष्काम भक्ति हमारा सच्चा यज्ञयाग और दान है। ईश्वर के सम्मुख आत्म निवेदन करना ही हमारा आत्मनिग्रह है, और उसके वैभव का गुण-गान करना ही हमारा सच्चा चिंतन है। ज्ञानार्जन, योगशक्ति, शारीरिक स्वास्थ्य, द्रव्य, यालवच्चे, जमीन-जायदाद इत्यादि इसके सामने कोई चीज नहीं—यहां तक कि मोक्षसुख का भी इसके सामने कोई महत्व नहीं है। ईश्वर और उसकी सृष्टि, अर्थात् प्राणिमात्र, पर प्रेम रखना ही आवश्यक है। एक बार नामदेव कुल्हाड़ी से एक वृक्ष की छाल निकाल रहे थे, पर जब उन्होंने कुल्हाड़ी मारने पर उस वृक्ष से रक्त बहते हुए देखा, तब वे बड़े दुःखित हुए और उस कुठाराघात के कारण वृक्ष को जो दुःख हुआ था, उसका अनुभव करने के लिये स्वयं उन्होंने अपने ही कंधे पर कुल्हाड़ी से घाव कर लिया। इसी प्रकार जब शेखमुहम्मद के पिता ने उनसे कसाई का व्यवसाय करने के लिये कहा, तब उन्होंने पहले अपनी उँगली ही को छुरी से काट लिया, जिससे प्राणिहिंसा के कष्ट का स्वयं उनको अनुभव हो। आखिर उस दुःख का अनुभव हो जाने पर उन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ दिया, और जिस संसार में अपने पेट-पालन के लिये औरों को सताना पड़ता है, उस संसार से वे विरक्त हो गये। एक बार तुकारामजी को पक्षियों से खेत की रक्षा करने के लिये कहा गया, अतएव उन्हें देख कर पक्षी उड़ गये। उस समय तुकारामजी ने सोचा कि मेरे किसी दोष ही के कारण ये पक्षी उड़ गये हैं! शायद कुछ लोगों को इन महात्माओं के मन की उदारता और परार्थत्याग पर विश्वास नहीं होगा, पर इसकी सत्यता के विषय में सचमुच ही कोई आशंका नहीं है, और

ऐसे ही आदर्शों से पारमार्थिक श्रेष्ठता की राष्ट्रीय उच्च भावना उस समय लोगों में जागृत हुई थी। चाहे वर्तमान समय में उतनी नम्रता और स्वार्थत्याग, शिथिलता और सहनशीलता उपयोगी न समझी जाय, पर इन साधु-महात्माओं का हुए चूंकि दो सौ से भी अधिक वर्ष बीत गये हैं, अतएव उनका वर्णन करते समय हमें अपनी आवश्यकताओं और इच्छित वस्तुओं का ही विचार करना समुचित न होगा।

हमारे साधु-महात्माओं के आचार-विचार और संभाषण की शैली क्या थी, और मुसलमान-धर्म के सदृश युद्ध प्रधान धर्म का सामना करते हुए, आये हुए संकट को टाल कर, उन्होंने किस प्रकार विजय प्राप्त किया, इसका वर्णन भी बहुत ही मनोरंजक है। नामदेव, एकनाथ, रामदास आदि के चरित्रों में तो ऐसी घटनाओं की खूब ही भरमार है। यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि, कई मुसलमानों ने भी हिन्दू धर्म को स्वीकार किया था, जिससे वे इतने प्रसिद्ध हुए कि उस समय के ग्रंथ लेखकों ने हिन्दू महात्माओं की तरह मुसलमान सन्तों का भी यश गाया है। उस समय के हिन्दुओं ने मुसलमान सन्तों का सम्मान करने में बड़ी उदारता दिखलाई थी। उदाहरण-स्वरूप शेखमुहम्मद और कबीर के नाम ही पर्याप्त हैं। इसी प्रकार तुकाराम और एकनाथ पर भी मुसलमान धर्म का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उर्दू भाषा में भी काव्य-रचना की। इन कविताओं के उच्चतत्त्व कट्टर मुसलमानों को भी मान्य हैं। जब समर्थ रामदासजी के शिष्य उद्धव पर बेदर में एक संकट उपस्थित हुआ, तब रामदासजी ने भी उक्त मार्ग का ही अनुकरण किया था। बेदर के बादशाह

के सेवक दामाजीपंत की कथा तो बहुत ही प्रसिद्ध है। एक बार जब अकाल पड़ा, तब उन्होंने सरकारी धान गरीब लोगों को बाट दिया। इस अपराध के लिए जब उन्हें दंड मिलने का समय आ पहुँचा, तब एक विचित्र प्रकार से उस धान का मूल्य सरकारी कोष में जमा हो गया, और दामाजी संकट से मुक्त हो गये। पर-धर्मीय राजाओं के झगड़ों में अंत में साधु-महात्मा ही विजयी हुए। उनकी विजय युद्ध या विरोध से नहीं, वरन् ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने से ही हुई। उस समय मुसलमानों के अल्ला और हिन्दुओं के राम को लोग एक ही मानने लगे थे, और पारस्परिक द्वेष को त्याग कर एकता की प्रवृत्ति बढ़ चली थी। इसके बाद जब शिवाजी रणभूमि पर उपस्थित हुए उस समय तो वह एकता अपना पूरा पूरा काम कर रही थी। परन्तु फिर भी मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी, और यदा कदा वह ज़ोर पकड़ती ही थी।

इस प्रकार धार्मिक हलचल के मुख्य भागों का हमने वर्णन किया। उक्त हलचल का ज़ोर पन्द्रहवीं शताब्दी, अर्थात् ज्ञानदेव के जन्मकाल से लेकर गत शताब्दी के अन्त तक, एकसा बना रहा, जिससे धीरे धीरे पारमार्थिक सद्गुणों की उन्नति होती गई। इसी हलचल के कारण हमें देशी भाषा का अमूल्य साहित्य मिला है, और जाति-पाँति के भ्रमपूर्ण विचारों का बल भी उसी हलचल के कारण कम हो गया है। शूद्र जाति को पारमार्थिक शिक्षा देकर और समाज में उसका महत्व बढ़ा कर ब्राह्मणों की श्रेणी में, उसी हलचल ने, बिठाया है। इसी हलचल से कुटुम्ब-विषयक पवित्रता बढ़ी, और स्त्रियों

की योग्यता में भी वृद्धि हुई, और पारस्परिक एकता की शिक्षा मिली। इसी हलचल से हिन्दू-मुसलमानों में मेल होने का विचार पैदा हुआ, और आंशिक रूप से उसकी पूर्ति भी हुई। इसी हलचल ने पूजा-अर्चा, व्रत-नियम, अध्ययन, तीर्थयात्रा, इत्यादि की अपेक्षा ईश्वर-भक्ति और भजन भाव का महत्व विशेष रूप से सिद्ध किया, अनेक देवताओं और मतमतान्तरों की बुराइयों को घटाया। इस प्रकार राष्ट्र की आचारशक्ति और विचारशक्ति को श्रेष्ठ बनाने में इस हलचल का बहुत उपयोग हुआ। इसी धार्मिक हलचल ने विदेशी शासन के स्थान पर एकता का 'स्वराज्य' स्थापित करने के उस महान् कार्य में महाराष्ट्र को आगे बढ़ाया जिसको करने के लिए भारत की और कोई जाति तैयार न हो सकी थी। 'महाराष्ट्र धर्म' के यही मुख्य विचार हमें दिखाई देते हैं, और इन्हीं विचारों को लेकर श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने छत्रपति शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को, अपने पिता का अनुकरण करते हुए, इस धर्म के आचार और प्रचार, का उपदेश किया था, कि जो उदारता और सहिष्णुता से परिपूर्ण है, और पूर्ण आध्यात्मिक होते हुए भी मूर्तिपूजा का विरोधी नहीं है।

नवम परिच्छेद।

जिजी।

मराठा इतिहास के दूसरे महान् सङ्कट को, जो शिवाजी की असामयिक मृत्यु के पश्चात् दक्षिण में दिखलाई पड़ा, उनके समय के बहुत ही कम लोगों ने अनुभव किया था। पहला सङ्कट तो उस समय प्रतीत हुआ था, जब कि शिवाजी ने, बिना किसी शर्त के, राजा जयसिंह के अधीन होकर दिल्ली को जाना स्वीकार किया था, और वहां वे कैद कर लिये गये थे। उस समय वे अपनी चतुरता और सौभाग्य से न सिर्फ बच ही निकले थे, बल्कि स्वयम् औरङ्गजेब से यह भी स्वीकार करवा लिया था कि देश में शिवाजी एक ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति है कि जिससे उस समय तक सन्धि रखना ही उचित है, जब तक उसको बिलकुल मटियामेट न कर दिया जावे। शिवाजी दक्षिण के सम्बन्ध में औरङ्गजेब के दाव-घातों से खूब परिचित थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्ष में देश को औरङ्गजेब के आक्रमणों को सहन करने के लिए ही तैयार किया था। दक्षिण की मुसलमानी रियासतों के भीतरी झगड़ों को सुलाकर शिवाजी ने गोलकुंडा और बीजापुर के सुलतानों से ऐसी सन्धि कर ली थी कि जिससे वे दूसरों पर आक्रमण करने और बाहरी आक्रमणों को रोकने में एक दूसरे के सहायक रहें। इन दोनों राज्यों

ने मुगल आक्रमणों से बचने में उपर्युक्त सन्धि से लाभ भी उठाया था, और शिवाजी की इस सहायता के लिये कुछ रुपया भी बतौर नजराने के देना स्वीकार कर लिया था। शिवाजी ने भविष्य का अनुमान कर अपनी विजय और सन्धि के द्वारा दक्षिणी भारत के भीतर कावेरी की घाटी में एक नवीन मोर्चा बाँध रखा था कि जिससे आवश्यकता पड़ने पर उससे लाभ उठा सकें। सह्याद्रि घाट के पार्वतीय दुर्गों और अन्य पर्वत-श्रेणियों की मरम्मत करा दी थी, और सरदारों की अधीनता में सामुद्रिक नाविक शक्ति भी अपनी रक्षा करने के लिए बढ़ायी जा रही थी। इससे बढ़ कर उन लोगों की शक्ति थी, जिनको उन्होंने बहुत समय तक रणकौशल सिखलाया था, और वे उनके साथ प्रत्येक जगह जाने के लिए तैयार रहते थे, एवम् विश्वासपात्रता और पूरी सफलता के साथ उनकी इच्छाओं को, जरासा संकेत पाने पर, पूरा करते थे। इसके सिवाय स्वतन्त्रता के विचार भी शिवाजी ने सर्वसाधारण के हृदयों में पैदा कर दिये थे। ये सब बातें उस शक्ति की मुख्य अवलम्ब थीं, जिसको शत्रु और मित्र प्रायः सभी प्रकार के लोग दक्षिणीय भारत में सब से बढ़कर मानते थे। चूंकि शिवाजी की मृत्यु असामयिक और अचानक होगई, इसलिए वे अपने उत्तराधिकारी के लिए पूरा प्रबन्ध न कर सके। उनका ज्येष्ठ पुत्र उनसे बड़ी धृष्टता के साथ पेश आया था और वह उनकी आज्ञा न मान कर मुगल सरदारों की शरण में चला गया था। मुगल कैम्प से वापस आने पर शम्भाजी को पन्हाला के किले में नजरबन्द रक्खा गया। रायगढ़ के मंत्रिगण जानते थे कि शम्भाजी अपने

आचरण और स्वभाव के कारण शिवाजी के आरम्भ किये हुए कार्य को सम्पादन करने में अयोग्य है। इसलिए उन्होंने उसे अलग करके छोटे लड़के राजाराम को राज्यसिंहासन पर बैठाना चाहा। इस अवसर पर बड़ी भूल यह हुई कि रायगढ के मन्त्रियों ने शीघ्रता में आकर फौज की सम्मति न ली। चूंकि सेनापति हम्बीरराव मोहिते उनकी गुप्त मन्त्रणा में सम्मिलित नहीं हो सके, इस लिए मन्त्रियों को असफल होना पडा। शम्भा जी फौज की सहायता से पन्हाला से निकल आया और रायगढ के मन्त्रियों के विरोध को दबाकर राजगद्दी पर अपना शासन जमा लिया। इस सफलता पर उसने जिस कूटनीति का अवलम्बन किया, उससे पता लगता है कि वह आनेवाली विपत्ति के समय में राष्ट्र का नेता होने की योग्यता न रखता था। उसने अपनी सौतेली मा को भूखा मार डाला, पुराने पेशवा, सामन्त और सचिव को कैद किया और शिवाजी के समय के मन्त्री को मरवा डाला। अस्तु, इसके शासन-काल में ऐसे अत्याचार बराबर होते रहे और इसने शीघ्र ही अपने पिता के समकालीन बड़े बड़े महान् पुरुषों को स्नेह से विमुख कर दिया। शम्भाजी स्वभावत वीर था और इस लिए यह भी ख्याल होता था कि इन अत्याचारों के होते हुए भी, वह अपने पडोसियों के सामने युद्ध में मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खेगा, किन्तु ये आशाएँ पूरी न हुईं। उसकी शराबखोरी और विलासिता की आदत ने शीघ्र ही उसको कमजोर कर दिया और अपने कृपापात्र 'कलुशा' नामक एक व्यक्ति के उपदेशों के कारण वह जादू टोना और भूत-प्रेत का बहुत बड़ा अन्ध-विश्वासी बन गया। अतएव,

ने मुगल आक्रमणों से बचने में उपर्युक्त सन्धि से लाभ भी उठाया था, और शिवाजी की इस सहायता के लिये कुछ रुपया भी बतौर नजराने के देना स्वीकार कर लिया था। शिवाजी ने भविष्य का अनुमान कर अपनी विजय और सन्धि के द्वारा दक्षिणी भारत के भीतर कावेरी की घाटी में एक नवीन मोर्चा बांध रखा था कि जिससे आवश्यकता पड़ने पर उससे लाभ उठा सकें। सह्याद्रि घाट के पार्वतीय दुर्गों और अन्य पर्वत-श्रेणियों की मरम्मत करा दी थी, और सरदारों की अधीनता में सामुद्रिक नाविक शक्ति भी अपनी रक्षा करने के लिए बढ़ायी जा रही थी। इससे बढ़ कर उन लोगों की शक्ति थी, जिनको उन्होंने बहुत समय तक रणकौशल सिखलाया था, और वे उनके साथ प्रत्येक जगह जाने के लिए तैयार रहते थे, परम् विश्वासपात्रता और पूरी सफलता के साथ उनकी इच्छाओं को, जरासा संकेत पाने पर, पूरा करते थे। इसके सिवाय स्वतन्त्रता के विचार भी शिवाजी ने सर्वसाधारण के हृदयों में पैदा कर दिये थे। ये सब बातें उन शक्ति की मुख्य अवलम्ब थीं, जिनको शत्रु और मित्र प्राय सभी प्रकार के लोग दक्षिणीय भारत में सब से बढ़कर मानते थे। चूंकि शिवाजी की मृत्यु असामयिक और अचानक होगई, इसलिए वे अपने उत्तराधिकारी के लिए पूरा प्रबन्ध न कर सके। उनका ज्येष्ठ पुत्र उनसे बड़ी धृष्टता के साथ पेश आया था और वह उनकी आज्ञा न मान कर मुगल सरदारों की शरण में चला गया था। मुगल कैम्प से वापस आने पर शम्भाजी को पन्हाला के किले में नजरबन्द रक्खा गया। रायगढ़ के मंत्रिगण जानते थे कि शम्भाजी अपने

आचरण और स्वभाव के कारण शिवाजी के आरम्भ किये हुए कार्य को सम्पादन करने में अयोग्य है। इसलिए उन्होंने उसे अलग करके छोटे लड़के राजाराम को राज्यसिंहासन पर बैठाना चाहा। इस अवसर पर बड़ी भूल यह हुई कि रायगढ़ के मन्त्रियों ने शीघ्रता में आकर फौज की सम्मति न ली। चूंकि सेनापति हम्मीरराव मोहित उनकी गुप्त मन्त्रणा में सम्मिलित नहीं हो सके, इस लिए मन्त्रियों को असफल होना पड़ा। शम्भा जी फौज की सहायता से पन्हाला से निकल आया और रायगढ़ के मन्त्रियों के विरोध को दबाकर राजगद्दी पर अपना आसन जमा लिया। इस सफलता पर उसने जिस क्रूरनीति का अवलम्बन किया, उससे पता लगता है कि वह आनेवाली विपत्ति के समय में राष्ट्र का नेता होने की योग्यता न रखता था। उसने अपनी सौतेली माँ को भूखों मार डाला, पुराने पेशवा, सामन्त और सचिव को कैद किया और शिवाजी के समय के मन्त्री को मरवा डाला। अस्तु, इसके शासन-काल में ऐसे अत्याचार बराबर होते रहे और इसने शीघ्र ही अपने पिता के समकालीन बड़े बड़े महान् पुरुषों को स्नेह से विमुख कर दिया। शम्भाजी स्वभावतः धीर था और इस लिए यह भी ख्याल होता था कि इन अत्याचारों के होते हुए भी, वह अपने पड़ोसियों के सामने युद्ध में मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खेगा, किन्तु ये आशाएं पूरी न हुई। उसकी शराबखोरी और विलासिता की आदत ने शीघ्र ही उसको कमज़ोर कर दिया और अपने कृपापात्र 'कलुशा' नामक एक व्यक्ति के उपदेशों के कारण वह जादू-टोना और भूत-प्रेत का बहुत बड़ा अन्ध-विश्वासी बन गया। अतएव,

शम्भाजी के शासनकाल का वर्णन करना व्यर्थ है। उसको देश का शासक कहने के लिए हम तैयार नहीं हैं। चूंकि उसने अष्ट प्रधानों को तोड़ दिया था, इस लिए वह कौंसिल तो किसी काम की जिम्मेदार रही नहीं थी। फौजी और मुल्की मामलों में भी नीति को भुला दिया था। सिपाहियों को नियमानुकूल तनख्वाह न दी गई, पहाड़ी किलों में न तो फौज ठीक रक्खी गई, और न रसद का सामान ही प्रस्तुत किया गया। जिलों की मालगुजारी वसूल करने का काम अधिक रुपया अदा करनेवाले ठेकेदारों को सौंपा गया। प्रत्येक प्रान्त में राज्यविद्रोह फैल गया और उसी समय औरंगज़ेब ने दक्षिण का हिन्दू-मुसलमान रियासतों को अधीन करके, अपने जीवन के सब से बड़े कार्य को पूरा करने की इच्छा से, तीन लाख सशस्त्र सैनिकों को लेकर हमला किया। भारतवर्ष की धन-शक्ति और जन-शक्ति, काबुल-कन्धार से लेकर बङ्गाल तक, इस काम के लिए लगा दी गई और उनसे सर्वोच्च श्रेणी के हिन्दू-मुसलमान जनरैलों (सरदारों) की अधीनता में काम लिया गया। जब शम्भाजी के यहां बादशाह के एक लड़के ने भाग कर शरण ली, तो उसने उसको अपने यहां से कुशल-समेत निकल जाने का अवसर देकर इस नये संकट के दूर करने का साधन अपने हाथों से खो दिया। पुराने मन्त्रियों ने उसको इस संकट से सचेत किया लेकिन उसने उनकी एक न सुनी। औरंगज़ेब की फौज ने दक्षिण में आकर तीन वर्ष के भीतर ही गोलकुंडा और बीजापुर को विजय कर लिया और शम्भाजी को अत्यन्त असहाय अवस्था में सुगमता के साथ गिरफ़्तार कर लिया, एवम् निर्दयता के साथ उसे मार डाला

समस्त मैदानों को विध्वंस करके, बिना युद्ध के ही, सब पहाड़ी किलों पर अपना अधिकार जमा लिया; क्योंकि उनकी रक्षा के लिए कोई उपाय सोचा ही न गया था। अन्त में रायगढ़ पर कब्ज़ा हो गया और शम्भाजी की स्त्री और बच्चे, औरङ्गजेब के कम्प में रक्खे गए। इस तरह, औरङ्गजेब अपने समस्त जीवन भर जिस बात का स्वप्न देखता रहा था, वह केवल पांच वर्ष के भीतर ही प्रत्यक्ष हो गया। नर्मदा से लेकर तुङ्गभद्रा तक सारा देश उसके चरणों के सामने अपना सिर झुकाता था। ऐसा मालूम पड़ता था कि शिवाजी और उनके सहकारी व्यर्थ ही में अब तक अपनी जान लड़ाते रहे थे। वह बड़ा तूफान, जिसकी रोक-थाम के लिए शाहजी और शिवाजी ने साठ वर्ष तक प्रयत्न किया था, अन्त में देश की समस्त वस्तुओं को बहा कर ले ही गया, और उसके रुकने के कोई लक्षण न दिखलाई पड़े। बीजापुर और गोलकुंडा के पुराने शासक बड़ी बड़ी दूर पर कैद थे और शम्भाजी का कम-उम्र लड़का औरङ्गजेब के कैम्प में गिरफ़ार था।

परन्तु, जिस समय देश का भाग्य अत्यन्त हीनावस्था को पहुँच गया था और सब कुछ हाथ से जाता रहा था, वस्तुतः कोई आशा भी शेष न रह गई थी, उस समय, इन्हीं आपदाओं के कारण, शिवाजी की शिक्षा पाये हुए देशभक्तों के दल ने धन-जन-विहीन, अर्थात् किसी प्रकार के साधन न होने पर भी, औरङ्गजेब को फौज समेत देश से बाहर निकालने और राष्ट्रीय स्वतंत्रता को पुनर्वार प्राप्त करने का पूरा निश्चय कर लिया था। इस दल का सरदार शम्भाजी का

छोटा भाई राजाराम था, जिसको शम्भाजी ने रायगढ के किले में कैद कर रक्खा था, और जिसने अपने भाई के कतल के बाद रायगढ विजय होने के पूर्व ही छुटकारा पा लिया था। राजाराम की अवस्था उस समय बीस वर्ष की थी, परन्तु उसके अन्दर उसके पिता के समस्त गुण—साहस और चतुरता, विलास-हीनता, नम्रता, हृदय की विशालता, और सब से बढ कर लोगों में विश्वास उत्पन्न करने का बल, आदि गुण मौजूद थे। उसने जीवन-पर्यन्त अपने को शाहू का, जो उस समय औरङ्गजेब की कैद में था, राज-प्रतिनिधि ही जाहिर किया; और शाहू के अधिकार को स्थिर रखने के लिए उसने कभी राजसिंहासन पर पैर भी नहीं रक्खा। शिवाजी के बनाये हुए न्यायाधीश नीराजी रावजी का बड़ा लड़का प्रह्लाद नीराजी, ऐसे समय में उसका प्रधान मन्त्री था। यद्यपि शम्भाजी के शासनकाल में वह अपने पद से अलग था, और राजकार्य में किसी प्रकार का योग न देता था, केवल चुपचाप सब मामलों को देखता रहता था, तथापि बुद्धिमान होने के कारण मराठों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मि० ग्राट-डफ, जो ब्राह्मणों के प्रशंसा करने वालों में नहीं हैं, वह भी प्रह्लाद को एक असाधारण प्रतिभा-शाली व्यक्ति मानते हैं। ब्राह्मण राजनीतिज्ञों की पंक्ति में यह पुरुष भी स्वार्थत्याग का एक बहुत ही उत्तम आदर्श रखने वाला था। राजाराम की तरह प्रह्लाद भी अपने राष्ट्रीय कार्य को अधूरा ही छोड कर इस असार संसार से चल बसा था। परन्तु दोनों को अपने जीवनकाल में इस बात पर सन्तोष था कि उन्होंने अपनी आंखों से उस सङ्कट को, जो बादल की भांति

। पर छाया हुआ था, बहुत कुछ दूर कर दिया था और
ंतम विजय पाने के लिए केवल समय की देर थी। इन
-हितैषियों में से रघुनाथपन्त हनुमन्ते भी था। यह शहाजी
करनाटकवाली जागीर के सब से पुराने ब्राह्मण कारकुन
लड़का था और अपने स्वार्थत्याग तथा विचार-स्वातंत्र्य
लिए मशहूर था। इसने वेङ्कोजी को तंजौर में और
ाजी को रायगढ में, चालचलन की दुरुस्ती के लिए,
कुछ शिक्षाएं दीं और जब सङ्कट का सामना आ पड़ा,
इसने प्रह्लाद नीराजी का साथ दिया और राजाराम
उसके साथियों की रक्षा के लिए जिंजी के किले को,
शहाजी की तंजौरवाली जागीर के अन्तर्गत था, मरम्मत
के तैयार किया। प्रथम पेशवा मोरोपन्त पिंगले के पुत्र
र को पहले ही से जिंजी के किले को प्रत्येक रीति
क रखने के लिए रवाना किया गया। इन ब्राह्मण नेताओं
जिनको दक्षिण में इधर-उधर गनीमी कावे की लड़ाइयों
र रक्खा गया था, सब से अधिक सुयोग्य और प्रसिद्ध
पुर के वर्तमान पन्त अमात्य घराने का पूर्वज राम-
न्त अमात्य था। रामचन्द्रपन्त, आबाजी सोनदेव का
था, जो शिवाजी के समय में मोरोपंत पिंगले के साथ
ी का प्रधान मन्त्री और फौज का सरदार था। उस
ना बड़ा विश्वास था कि उसको समयानुकूल प्रत्येक
रने का अधिकार दिया गया था और राजाराम तथा
राठे सरदार, जिनको राजाराम के साथ दक्षिण को
ाना पड़ा, अपने बालबच्चों को उसके ही निरीक्षण में
गढ़ में छोड़ गये।

मराठा राज्य का एक यही प्रतिनिधि वहां रह गया था, जिसने मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार न की थी। दूसरा ब्राह्मण नेता, शङ्करजी मल्हार का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसको शम्भाजी ने 'सचिव' के पद पर नियत किया था। इसने जिंजी को प्रस्थान करनेवाले सरदारों का साथ दिया और थोड़े समय के पश्चात् बनारस को चला गया। जब शाहू को राज्याधिकार मिला, तब उसने सैयदों और मराठों के बीच सन्धि कराने में विशेष रूप से सेवा की थी। इस सङ्कट के समय जो प्रसिद्ध ब्राह्मण नेता हुए, उनमें सितारा जिले की औंध रियासत के पन्त-प्रतिनिधि घराने के पूर्वज परशुराम त्र्यम्बक, किन्हई के कुलकर्णी और भोर के पंत-सचिव घराने के पूर्वज शङ्कराजी नारायण भी थे। ये लोग रामचन्द्रपन्त के मुख्य सहायकों में से थे और इन्होंने अपने देशवासियों के विश्वास को बड़ी खूबी के साथ निभाया। मराठा जाति के नेताओं में मुख्य उत्तरदायित्व सन्ताजी घोरपडे और धनाजी यादव का समझा जाता था। इन्होंने सन् १६७४ ई० में पन्हाला के समीप हम्मीरराव मोहिते की अधीनता में एक पराजय को विजय में परिणत करके प्रथम बार नामवरी पैदा की थी और तीस वर्ष तक बराबर इन्होंने मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खा, और तमाम मुगल सेनाओं का साहसपूर्वक सामना करते रहे। यद्यपि ये दोनों राजाराम और प्रह्लाद नीराजी के साथ जिंजी को चले गये थे, परन्तु शत्रु का सामना करने को यह आपस में तय हो चुका था कि ये दोनों दक्षिण ही में आकर मुगलों का मुकाबिला करें और उनको कर्नाटक पर आक्रमण करने से रोकें, जिससे वे जिंजी पर दबाव न डा

सकें। निःसन्देह वे विना रुपया पैसा, और किसी प्रकार की आमदनी का आश्रय लिये विना ही लड़ते थे। उनको सिपाही, घुड़सवार, रसद, गोला-बारूद और खर्च के लिए द्रव्य इत्यादि जमा करने की खुद ही फिक्र करनी पड़ती थी और इसलिए उन्होंने बहुत कुछ जियादती से भी काम लिया। वे लोग समस्त मुगल शक्ति के मुकाबिले युद्ध करते थे। इन्होंने मुगल सैनों पर ऐसा आतंक जमा दिया था कि शताब्दी खतम होने के पहले ही मराठा लश्कर अपने देश में आकर गुजरात, मालवा, खानदेश तथा बरार पर हमला करने के योग्य हो गया, और मुगल सम्राट की फौज को बहुत कुछ कमज़ोर कर दिया। इस स्वाधीनता के संग्राम के समाप्त होने के पूर्व ही सन्ताजी घोरपड़े को, एक उसके निजी शत्रु ने, धोखे से मार डाला, परन्तु उसके अन्य तीन भाइयों ने मुगलों के मुकाबला करने का काम अपने उत्तरदायित्व पर जारी रक्खा और गुत्ती तथा मुद्‌नौमिक रियासतों की नींव डाली। हां, धनाजी यादव अवश्य ही तब तक जीवित रहा, जब तक कि वसन शाह को अपने देश में आकर गद्दी पर बैठा हुआ न देख लिया।

अन्य मराठा सरदारों में खण्डेराव दाभाडे का दर्जा भी श्रेष्ठ है। इसका पिता शिवाजी की नौकरी में तलेगाव का पटेल था। यह भी राजाराम के साथ जिंजी को चला गया था। यही पहला मराठा सरदार था, जिसने दक्षिण से बाहर गुजरात और खानदेश जैसे बादशाही सूबों पर आक्रमण किया। उसके साथियों में से एक ने, जो धार और देवास के पवार वंश का अधिष्ठाता हुआ है, मालवे में प्रवेश किया। खंडेराव दीर्घकाल तक जीवित रहा, और बालाजी विश्वनाथ के साथ

देहली के, सम्राट से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' की सनद भी लेने गया था। अन्य मराठा सरदारों में, जिन्होंने उस समय जी तोड़ कर काम किया, आठवले, सीधोजी नायक, निम्बाल कर, परसोजी भौंसले, (नागपुर के राजाओं के पूर्वज), नेमाजी शिन्दे के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दीर्घकालीन युद्ध के समय में थोरात, घाटगे, थोके, महार्णव, घाढरे, काकडे, पाटनकर, वांगर, कदू और अन्य सरदारों ने भी बड़ी अच्छी शिक्षा प्राप्त की, और भविष्य में देश के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। राजाराम के मंत्रियों ने इन सरदारों को मुगल-इलाके से चौथ और सरदेशमुखी, वसूल करने का अधिकार दे दिया था। इस लिए परसोजी भौंसले ने गोंडवाना और वरार से चौथ वसूल करने की सनद प्राप्त कर ली थी। निम्बालकर घराने को गंगाथडी का सूबा मिल गया था। दाभाडे लोगों को गुज-रात और खानदेश पर अधिकार था और अन्य सरदार कर्नाटक तथा तत्कालीन अन्य विजित मुगल सूबों में नियत किये गये थे।

प्रभू सरदारों में दो आदमी मुख्यतया उल्लेखनीय हैं, जिनमें से पहला खंडो बल्लाल, चिटनीस है। यह शिवाजी के मुख्य मन्त्री बालाजी आवजी का लड़का था। इसके पिता और चाचा को यद्यपि शम्भाजी ने बड़ी निर्दयता से मरवा डाला था तथापि वह सदैव शम्भाजी के साथ, विश्वासपात्रता, और राजभक्ति का वर्ताव करता रहा। यही नहीं, वल्कि पोर्चगीज की लड़ाई में उसने बहुत बड़ी वीरता दिखलाई। इस लिए शम्भाजी का वह बहुत बड़ा कृपापात्र बन गया। शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् वह राजाराम के साथ जिञ्जी को गया, परन्

जब बेलारी नामक स्थान में मुगल सूबेदार ने उन सब छद्म-वेषधारी लोगों को घेर लिया, तब खण्डो बल्लाल, बड़े आत्मोत्सर्ग के साथ, अपने तमाम साथियों को आगे भेज कर, स्वयम् उस स्थान पर डटा रहा। उसको मुगलशासक ने पकड़ कर बड़ी निर्दयता से सताया, किन्तु वह उसकी राज-भक्ति को जरा भी डिगा न सका। उसने मुगल फौज के मराठे सरदारों को कोकन प्रान्त की अपनी जागीर देने की प्रतिज्ञा करके, उनके द्वारा राजाराम को जिंजी से कुशलपूर्वक निकाल लाने की चेष्टा की। वह शाह के दिल्ली से सतारा वापस आने और उसके पूर्वजों की राजगद्दी पर आसीन होने के समय तक जीवित रहा। दूसरा प्रभू सरदार प्रयागजी नामक था। जब औरंगजेब ने जब एक बार बहुत सी सेना के साथ कई महीने तक सितारा शहर को घेर रखा था, तब इसी सरदार ने बड़ी वीरता के साथ शहर की रक्षा की थी।

यही वे देशभक्त ब्राह्मण, मराठा और प्रभू सरदार थे, जिन्होंने विपत्ति के तूफान से न डगमगा कर जीवन-पर्यन्त राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्थापित रखने का प्रण निश्चय कर लिया था और दक्षिण में बचाव का कोई आश्रय न पाकर जिंजी के किले में चले गये थे। राजाराम ने वहां अपनी अष्टप्रधान समिति स्थापित की, कचहरियां खोलीं, और सुयोग्य कर्म-चारियों को इनाम और जागीरें दीं। इस प्रकार उसने सेना-नियों को मुगलों के मुकाबले युद्ध करने की आज्ञाएं उसी प्रकार दीं, कि जैसे वह अब तक अपने समस्त देश का अधि-पति हो। उसने अपने उक्त सरदारों को, अपनी तमाम शक्ति एकत्रित करके, सिर्फ दक्षिण के छै सूबों में ही नहीं, वरन्

सुलह कर ली। अतएव कुछ शर्तों पर मुगल फौज को वापस जाने का मौका दिया गया। औरंगजेब ने अपने मंत्री के इस कार्य को नापसन्द किया, और अपने पुत्र को वापस बुला कर जुलफिकारखां की अधीनता में एक नयी फौज रवाना की। परन्तु इस फौज के द्वारा घेरे का काम शीघ्र नहीं हो सका; अतएव सन्ताजी इसी बीच में वहां से मुक्त होकर शीघ्र ही बीजापुर में शाही फौज पर मँडराने लगा और सूबेदार कासिमखां को दोडेरी नामक स्थान पर पराजित करके अपने अधीन कर लिया।

इसी प्रकार सरदार हिम्मतखां को घेर कर पराजित किया। आखिरकार सन् १६९७ ई० में फिर घेरा डाला गया, और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, राजाराम के कुशल समेत निकल जाने के बाद जनवरी सन् १६९८ ई० में किले पर बादशाह का अधिकार हो गया। राजाराम शीघ्र ही सतारा में रामचन्द्रपन्त से जा मिला। परसोजी भोसले, हैबतराव निम्बालकर, नेमाजी शिन्दे, आठवले, और शमशेर बहादुर इत्यादि समस्त सरदार एक एक करके अपने देश में वापस आ गये। यद्यपि उस समय धनाजी जाधव दक्षिण में मराठा के अधिकृत स्थानों की रक्षा करने के लिए था, परन्तु लड़ाई का रुख कर्नाटक और द्राविड़ी देश से हट कर दक्षिण की ओर फिर गया था। समुद्री किनारों के किले मराठों के पक्षपाती बने रहे, और कान्होजी आंगरे की अधीनता में मराठे बराबर ट्रावनकोर से बम्बई तक के किनारों पर लूट मार करते और समुद्र का बहुत सा सामान अपने कब्जे में लेते रहे। सावन्त लोग भी राजभक्ति से नहीं डिगे।

सन् १६९९ ई० में राजाराम अपनी तमाम फौज के साथ खानदेश, गङ्गथडी, बरार और बागलान में दाखिल हुआ, और उन भागों में चौथ और सरदेशमुखी का कर नियत किया। सतारा वापस आने पर उसने अपने चार सरदारों को, अर्थात् दाभाड़े को बागलान में, शिन्दे को खानदेश में, भोंसले को बरार में और निम्बालकर को गङ्गथडी में स्थायी तौर पर नियत किया।

सन् १७०० ई० में औरङ्गजेब ने उन समस्त किलों को, जो मराठों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए थे, बरबाद करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक दस्ता फौज अलग करके अपनी अधीनता में रक्खा, और जुलफिकारखां को राजाराम की फौज से मैदान में दो दो हाथ करने की आज्ञा दी। एक-एक करके किले विजय किये गये, और अन्त में उसने सतारा पर घेरा डाल दिया। यद्यपि प्रयागजी प्रभू ने चिरकाल तक बड़ी खूबी के साथ किले की रक्षा की, किन्तु अन्त में मुगल सम्राट ने उसको जीत ही लिया। इसी समय राजाराम सिंहगढ़ में मर गया; और चूंकि शाहू उस वक्त मुगलों की ही कैद में था, इसलिये उसके दस वर्ष के बालक को गद्दी पर बठा कर रामचन्द्रपन्त पूर्व की तरह कार्य सञ्चालित करता रहा। धनाजी को कर्नाटक से वापस बुला लिया गया, और रामचन्द्रपन्त तथा धनाजी के अनुशासन में मराठे सरदार, बड़े जोश के साथ, समस्त देश से चौथ, सरदेशमुखी और घास-दाना वसूल करते हुए लड़ते रहे। दूसरी ओर औरङ्गजेब ने भी अपना कार्य जारी रक्खा, और आगामी चार वर्ष तक एक के बाद दूसरा किला विजय

करता रहा। यह एक प्रकार का विचित्र परिवर्तन था। किलों से निकाले जाने पर मराठे खानदेश, बरार और गुजरात के मैदानों पर आक्रमण करते हुए फैलते चले गये, बल्कि एक दल ने नर्मदा को पार कर के मालवा पर डेरा-डण्डा जमा दिया। अन्त में सन् १७०५ ई० में औरङ्गजेब के सैनिक और मुल्की मंत्रियों ने मराठों से सुलह करने की सम्मति दी और औरङ्गजेब को यहां तक राजी कर लिया कि उसने मराठों को दक्षिण के छै सूबों में सरदेशमुखी वसूल करने की आज्ञा इस शर्त पर दे दी कि वे उन समस्त सूबों में शान्ति रखने के जिम्मेदार हों। उसने शाहू के साथ उच्च मराठा, शिन्दे और जाधव, घराने की दो लड़कियों से, जिनके पिता बादशाही नौकरी में थे, विवाह करने का प्रबन्ध करा दिया, और अक्कलकोट, इन्दापुर-निवासें तथा बारामती नामक जागीरें को दहेज में दिया। चूंकि मराठों ने इससे भी अधिक लेने की इच्छा प्रकट की, इसलिए यह समस्त बातें व्यर्थ सिद्ध हुई। मुगलों की ओर से लड़ाई सुस्त पड़ गई और मराठों ने पिमला को पुनर्वार विजय करके अपने राजा शिवाजी और उसकी मा ताराबाई का निवासस्थान बना दिया। पावनगढ़, वसन्त गढ़, सिंहगढ़ और रायगढ़ तथा सतारा पर दुबारा कब्ज़ा कर लिया और तत्पश्चात् धनाजी ने पूना और चाकन को सन् १७०७ ई० में वापस ले लिया। इस तरह औरङ्गजेब ने अपनी समस्त चेष्टाओं में असफल होकर शाहू से एक पत्र, मराठों के राजा की हैसियत से, मराठा सरदारों के नाम लिखवाया इसमें बादशाह से सुलह करने की शिक्षा दी गई थी। औरङ्गजेब की अन्तिम चेष्टा थी, और यह भी व्यर्थ सिद्ध हुई

औरङ्गज़ेब के जीवन में शाहू की स्वतंत्रता के लिए कुछ भी न किया गया। सन्धि की लालसा, और शाहू का उसकी इच्छा से पत्र लिखना, दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि औरङ्गजेब इस बीस वर्ष के युद्ध को, जहाँ तक मराठों का इससे सम्बन्ध था, अपनी ही भूल का कारण समझता था। उसकी शानदार फ़ौज अयोग्य प्रमाणित हुई, अथवा मारी गई। उसका खेमा तक लूटा गया और वह स्वयम् कैद हो जाने के डर से भयभीत रहता था। जब औरङ्गज़ेब अहमदनगर में मरने लगा, तो उस समय उसने अपने जीवन की असफलता पर जो पश्चात्ताप किया, वह निष्कारण नहीं था। बेचारा औरङ्गज़ेब उस समय उदासहृदय अपनी समस्त आशाओं तथा अभिलाषाओं की समाप्ति पर शोच करता हुआ काल का ग्रास हुआ।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् उसके लड़के आज़िमशाह ने, जुलफ़िक़ारखाँ की सम्मति से, शाहू को इस शर्त पर स्वतन्त्र किया कि अगर मराठा उसको अपना राजा स्वीकार कर लेवें तो उसके पितामह शिवाजी का स्वराज्य, अर्थात् सुल्तान-बीजापुर से फ़तह किया हुआ देश, उसको दे दिया जावेगा। इनके अतिरिक्त भीमा तथा गोदावरी के बीच की जागीर दे दी जावेगी। मराठा सरदारों ने शाहू को राजा स्वीकार किया, और सन् १७०८ ई० में सतारा में उसको राजतिलक किया गया। बस, उस समय से कुछ वर्षों के भीतर ही, समस्त मराठों के पुराने अधिकृत स्थानों पर, कोल्हापुर ज़िले को छोड़ कर, जो राजाराम की सन्तान के अधीन था, शाहू का अधिकार हो गया। दक्षिण के मुग़ल शासक ने छै सूबों में शाहू को चौथ और सरदेशमुखी वसूल

करने के हक को मान लिया और दस वर्ष के भीतर ही भीतर बालाजी विश्वनाथ पेशवा और खण्डेराव दाभाडे ने चौथ और सरदेशमुखी एवम् स्वराज्य की नियमानुकूल सनद प्राप्त कर ली।

इस प्रकार बीस वर्ष का यह स्वाधीनता का युद्ध अन्त में बड़ी खुशी के साथ समाप्त हुआ। इन परिणामों पर दृष्टि डालते हुए यह मानना पड़ता है कि यह बीस वर्ष का समय मराठा इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यतीत हुआ। शिवाजी को साम्राज्य की समस्त सेना से कभी नहीं लड़ना पड़ा था। वास्तव में जब मुगलों के सरदार जयसिंह ने शिवाजी पर बड़ा दबाव डाला, तो बड़े आत्मत्याग के साथ उन्होंने सम्राट् की अधीनता स्वीकार की, इसके अतिरिक्त उनको दक्षिण की दो मुसलमानी राज्यों की सहायता प्राप्त थी, और वे उनको मुगलों के विरुद्ध लड़ा सकते थे। इन सब में एक बात और भी थी, और वह यह कि, वे अपने पहाड़ी किलों के भीतर ही रहते हुए लड़ा करते थे। इन सब बातों पर विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि वे मराठे देशभक्त, जिन्होंने स्वाधीनता के संग्राम को सञ्चालन करने में सफलता दिखलाई, बहुत कम सुविधा रखते थे। उनका कोई भी, शिवाजी की तरह, ऐसा नेता न था जो अपने व्यक्तिगत बर्ताव और साहस से बहुत बड़ी अजेय शक्ति रखता हो। उनको सारी बादशाही फौज के साथ, जो स्वयम् सम्राट् औरङ्गजेब की ही अधीनता में थी, और जिसके लिए समस्त भारतवर्ष के साधन प्रस्तुत थे, लड़ना पड़ा। शम्भाजी की निर्दयता के कारण मराठों के अत्यन्त उपयोगी सरदार मारे जा चुके थे, और समस्त किले बचाव की दृष्टि से निकम्मे थे। उनका राजा मुगलों के हाथ

में क़ैद था, और उनको घर से निकल कर दूरस्थित स्थानों में शरण लेनी पड़ी थी। बिना कर, बिना फ़ौज, और बिना किसी प्रकार की आमदनी के साधनों के, इन्होंने फ़ौज भरती करने का प्रबन्ध किया, किला को वापस लिया और विजय प्राप्त करने की चेष्टाएँ कीं। फल यह हुआ कि इन्होंने, न केवल स्वराज्य ही प्राप्त किया वरन् दक्षिण और कर्नाटक में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। बहुत से लोग, जैसे राजाराम, प्रह्लाद नीराजी, सन्ताजी घोरपड़े इत्यादि, जिन्होंने इस युद्ध की नींव डाली थी, शीघ्र ही से परलोकगामी हो गये थे, परन्तु उनके स्थान में दूसरे मनुष्यों ने वैसी ही निष्ठा और सफलता के साथ कार्य का सम्पादन किया। अगर औरंगज़ेब दक्षिण पर आक्रमण करके मराठों को इस युद्ध के लिए विवश न करता, तो सम्भव है कि एक साधारण सी रियासत पश्चिमीय महाराष्ट्र में तंजोर की तरह स्थापित हो जाती और मुग़ल सम्राट् उसके सरदार को अपने उमरावों में सम्मिलित करने में सफल हो जाता। शिवाजी की युद्धप्रियता का जोर दूसरी ही पीढ़ी में ठंढा पड़ जाता और भिन्नता का भाव, जो इस क़दर ज़ोरों से है, अपना काम फिर आरम्भ कर देता और मराठा राष्ट्र की रचना बिलकुल असम्भव हो जाती।

इन समस्त सङ्कटों को दूर करने, और लोगों में एक नवीन शक्ति उत्पन्न करने का श्रेय औरंगज़ेब की महत्त्वाकांक्षा को ही देना चाहिए। उसने महाराष्ट्र के लोगों को खूब उत्तेजित किया। इस बीस वर्ष के युद्ध ने ही मराठों की राष्ट्रीयता और देशभक्ति को सङ्गठित कर दिया, और उनको आगामी

सन्तानों को भी भारतवर्ष के दूरस्थित स्थानों में विजेताओं के रूप में ले गया। इस लिए इस युद्ध ने शिवाजी के प्रारम्भिक प्रयत्नों और उनकी कारगुजारियों से भी बढ़ कर काम किया। केवल लुटेरे और डाकू ऐसे युद्ध में, इस प्रकार के शत्रु के विरुद्ध, कभी भी सफलता प्राप्त न कर सकते थे। यह उच्च कोटि की नैतिक शक्ति ही थी, जिससे उत्तम वर्ग के लोगों की शूर-वीरता, कष्टसहिष्णुता, शासनदक्षता, आज्ञाकारिता और आकांक्षाएँ दिन दूनी रात चौगुनी होती गई। वह विश्वास पात्रता, जिसमें बाल-बराबर भी अन्तर कभी नहीं आने पाया, वह उच्च आदर्श, जो समय, स्थान अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त था, वह भ्रातृभाव, जो सार्वजनिक सङ्कट के समय उत्पन्न होता था, और वह आत्मत्याग का बल, सर्वसाधारण के हितों की आकांक्षा, तथा अन्तिम विजय की सच्ची कामना, इस लिए होती थी कि, यह एक स्वराज्य-स्थापना का धार्मिक कार्य्य था। इन्हीं सद्गुणों के कारण देश के शुभचिन्तकों ने अपने देश को ऐसे सकट से बचा लिया, जिसका भारतवर्ष में कोई दूसरी जाति मुकाबला न कर सकती। यह स्वतंत्रता का युद्ध क्या था—मानों उपर्युक्त सद्गुणों को सिखाने के लिये एक महाविद्यालय था, जिसमें कठोर, किन्तु उपादेय, शासन के साथ शिक्षा मिली। इस दृष्टि से मराठा-इतिहास में सदैव यह "स्वाधीनता का संग्राम", बड़े मार्के का समझा जावेगा।

दसवां परिच्छेद।

अशान्ति में शान्ति की स्थापना।

बीस वर्ष क स्वाधीनता के युद्ध की समाप्ति पर, जैसा पिछले परिच्छेद में वर्णन किया गया है, शाहू को स्वतन्त्रता मिली और वह मराठों के माननीय नेता की हैसियत से, अपने दादा शिवाजी की प्रतिज्ञा, जो महाराष्ट्र को सगठित करने की थी, पूरी करने के लिए दक्षिण में वापस आया। यद्यपि जिस उद्देश्य से यह युद्ध मुगल सेना के विरुद्ध छेड़ा गया था, वह सिद्ध हो गया। परन्तु भिन्न भिन्न दलों के मुखिया, जिनमें स प्रत्येक स्वय ही लड़ने को तैयार हुआ था, अपनी अपनी स्वतन्त्रता को हाथ से खोना नहीं चाहते थे। इसलिए देश में उस समय एक प्रकार की गड़बड़ी मच गई थी और लगातार कई वर्षों तक शान्ति को स्थापित रखना असम्भव मालूम पड़ता था। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के अनन्तर मराठों का सङ्गठित रूप में काम करने का विचार भी जाता रहा था, और बादशाही फौज की विश्रृङ्खलता ने स्वाधीनता के पश्चात् मराठा देशभक्तों की एकता को दूर कर दिया था। ऐसा मालूम होता है कि मुगल सम्राट् के मंत्रियों ने मराठा सरदारों में शान्ति और सुशासन के नाम पर फूट पैदा करने के लिए शाहू को स्वतन्त्र किया था। शाहू के लौटने पर इन दलबन्द नेताओं ने, जो राजाराम के साथ काम कर चुके थे,

रक्खा था, लोगों में से जाती रही थी। शाहू के जीवन का सर्वोत्कृष्ट भाग क़ैदी की दशा में व्यतीत हुआ था। और यद्यपि पीछे से उसकी कैद उतनी कष्टदायक नहीं थी, परन्तु उसने मुसलमान सरदारों की, जिनके बीच में वह सयाना हुआ था, विलास-प्रियता को अङ्गीकृत कर लिया था। उसको यह आशा न थी कि वह अपने पूर्वजों की भांति मुगलों की उपेक्षा करते रहने में सफलमनोरथ हो सकेगा। अतएव वह मुगल साम्राज्य के रईसों में गणना होने की शर्त पर सन्धि करने को राजी था। उसमें शूरवीरता एवम् हृदय और मस्तिष्क की ख़ूबियां बहुत सी थीं, परन्तु अपने पिता और पितामह की भांति सङ्गठन करने की शक्ति और कार्य में लगे रहने का बल, जिसके बिना अशान्ति की दशा में शान्ति स्थापन करना असम्भव था, उसके अन्दर न था। मुगल शासक कुछ पहाड़ी क़िलों को छोड़ कर समस्त दक्षिण पर शासन करते थे और उनकी सेना, यद्यपि वह शक्तिहीन थी, परन्तु मैदान में फिर भी सामना करने के लिए आ सकती थी। इस दशा में स्वाभाविक, अथवा बाहरी साधनों से भी, शाहू स्वयम् इस योग्य न था कि अपनी चेष्टा से काम करने का कोई उपाय निकाल सकता, और न कोई उसके सेनाध्यक्षों ही में ऐसा दूरदर्शी था कि जो उस समय उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता। पहले कुछ वर्षों तक तो यही मालूम पड़ता था कि ज़ुलफ़िक़ारखां की चेष्टाएं ही सफल होंगी। मराठा लोग फूट, ईर्ष्या और अनेकानेक भ्रान्तियों के कारण सगठित रूप में कोई प्रयत्न ही न कर सकते थे। यह अवसर, जो हाथ लग चुका था, अगर कुछ विशाल बुद्धि के महान् पुरुष आगे

न बढते, ते व्यर्थ ही जाता रहता। परन्तु शाहू के भाग्य से उसके सिंहासनारूढ होने के आरम्भिक काल में ही उस ओर लोगों का ध्यान जाने लगा था। उस समय केवल साहस और बल की ही आवश्यकता न थी; क्योंकि वह काफी से ज्यादा मौजूद था। उस समय तो उस संगठन की आवश्यकता थी, जो लोगों को प्रचण्ड देशभक्ति से प्रेरित करके अनैक्य दूर रखता, और सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर कर उन उद्देश्यों की ओर ले जाता, जिनको पचास वर्ष पूर्व शिवाजी ने कार्य में परिणत कर आगामी सन्तानों को वसीयत के तौर पर छोड़ रखा था। उन लोगों में, जो उस समय आगे बढे थे, बालाजी विश्वनाथ ने सर्वसम्मति से अपने लिए वह स्थान प्राप्त किया। उनके अन्दर वे समस्त गुण मौजूद थे, जिनकी उस समय महाराष्ट्र को आवश्यकता थी। उसको आबाजी पुरन्दरे ने, जो पुरन्दरे वंश का अधिष्ठाता था, धनाजी पन्त की सेवा में अपनी तरह कारकुन नियत करा दिया था। यही दोनों धनाजी जाधव के प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों के मुख्य मन्त्री थे। इनमें एक देशस्थ और दूसरा कोकणस्थ ब्राह्मण था। दक्षिण के ब्राह्मणों ने पूर्व ही से शिवाजी के राज्य और बल को संगठित करने में विशेष भाग लिया था, और हनमन्त, पिंगले, आबाजी सोनदेव तथा प्रह्लाद नीराजी इत्यादि ने रणक्षेत्र में बडी योग्यता प्रदर्शित की थी। मराठा राज्य के आरम्भिक साठ वर्षों में कोंकण के ब्राह्मणों ने कोई बडा कार्य न किया था; परन्तु इस समय बुद्धि और चतुरता दिखलाने का सुअवसर देख कर उनमें से कुछ योग्य पुरुष, देशसेवा के निमित्त, अपनी भाग्य की परीक्षा के लिए आगे

पहले ही शिवाजी ने दक्षिण के हिन्दू और मुसलमान शासकों की सम्मति से, उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था, और कर लेकर सहायता और संरक्षा करने की पद्धति को जारी कर दिया था। कुछ मुगल सूबों से भी उन्होंने अपना हक वसूल किया था। सरदेशमुखी तो मालगुजारी वसूल करने की जिम्मेदारी पर पैतृक अधिकार के रूप में थी। किन्तु उसके पीछे 'चौथ' का स्वत्व उन राज्यों की सलाह से नियत किया गया, जिनको बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखने की शर्त पर फौज रखने के लिए एक निश्चित रूप में रुपया देना स्वीकार था। यही मुख्य सिद्धान्त था जिसके आधार पर शिवाजी ने काम करना आरम्भ किया, और जो आगे चलकर सौ वर्ष के बाद मारकीस-आव् वेलेजली के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

जब स्वाधीनता का युद्ध समाप्त होगया, और मराठे मरहठा कर्नाटक, गङ्गथडी, बरार, खानदेश और गुजरात तथा मालवा की सीमाओं पर जा डटे, तब उपर्युक्त पद्धति का विचार भी स्वाभाविक ही अधिक विस्तृत होगया, और जो लिखा-पढ़ी मुगल सूबेदारों से हुई, उसमें बालाजी विश्वनाथ और शाहू के अन्य मन्त्रियों को सुधार की बहुत कुछ आवश्यकता मालूम हुई। युद्ध के दौरान में चौथ और सरदेशमुखी के विषय में बातचीत हो क्या हो सकती थी, और युद्ध की समाप्ति पर प्रथम तो स्वराज्य को प्राप्त करना, अर्थात् शाहू के लिए देश का वह भाग अपने अधिकार में लाना, जिस पर उनके पितामह शिवाजी रायगढ़ में राज्याभिषेक के समय सन् १६७४ ई० में अधिष्ठित थे, आवश्यक था। राजाराम की मृत्यु के बाद

औरङ्गजेब ने स्वराज्य के कुछ हिस्से पर शाहू का स्वत्व स्वीकार किया था और विवाह के समय दहेज के रूप में सूपा और इन्दापुर की पुरानी जागीर एवम् अक्कलकोट तथा नेवासा के महाल दे दिये थे। तत्पश्चात् औरङ्गजेब ने शाहू से, मराठे सरदारों के नाम, युद्ध को रोकने और सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने के विषय में पत्र लिखवाये। शाहू के द्वारा इस कार्य का सम्पादन कराना इस बात का प्रमाण है कि वह शाहू को समस्त मराठे सरदारों का, जो मुगलों के विरुद्ध उस समय युद्ध कर रहे थे, नायक मान चुका था। सन् १७०५ ई० में इस युद्ध का अन्त करने की इच्छा से औरङ्गजेब ने दक्षिण के छै सूबों में सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार समर्पित किया और इस पर मराठे सरदार एक काफी तादाद में सवारों को रख कर शान्ति स्थापित करने के लिए राजी हुए। यह पहला अवसर था जब कि औरङ्गजेब ने प्रत्यक्ष, नियमानुकूल रूप से, सरदेशमुखी को, जिसे शिवाजी ने ५० वर्ष पूर्व उपस्थित किया था, स्वीकार किया। किन्तु इस स्वीकृति से कुछ भी लाभ नहीं हुआ; क्योंकि मराठे सरदारों ने अपनी शर्तों को नहीं दिया, और परिणाम यह हुआ कि युद्ध जारी रहा। औरङ्गजेब की मृत्यु के अनन्तर, पारस्परिक कलह के कारण, उसके लड़कों ने शाहू को स्वतन्त्र करके उनकी मातृभूमि में ही भेज देना उचित समझा; और उनसे कह दिया कि अगर दक्षिण में उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिया तो सम्राट् का पुत्र आजिमशाह और मुगल सेना का अध्यक्ष जुलफिकार खाँ—दोनों भीमा और गोदावरी के बीच का सम्पूर्ण इलाका, जिसको शिवाजी ने विजय कर लिया था, उन्हें अर्पित कर

खर्च ही हो जाती थी। यह चौथ वसूल करने का स्वत्व यद्यपि मराठे सरदारों को दे दिया गया था, तथापि दिल्ली के राज्य को इससे कोई हानि नहीं होती थी। क्योंकि पूरी आमदनी का ७५ फी सदी भाग प्रधान सरकार के कोष में पहुँचही जाता था। परन्तु देश की अत्यन्त हीनावस्था के कारण सरदेशमुखी और चौथ ही समस्त आमदनी को डकार जाती थी। और बादशाही खजाने में केवल नाममात्र के लिए ही कुछ जाता था। यही कारण है कि चौथ और सरदेशमुखी की सनदों के होते हुए भी झगड़ा बना रहा। जहां मराठा फ़ौज काफी होती थी वहां मराठों की सरदेशमुखी और चौथ सख्ती से वसूल कर ली जाती थी, और तीन-चौथाई अंश मुगल शासकों के वसूल करने को शेष रह जाता था। अवश्य ही वे लोग उसके वसूल करने में असमर्थ रहा करते थे। इसलिए सम्पूर्ण सत्ता धीरे धीरे मराठों के ही हाथ में चली गई।

मराठों के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता आगई, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह परिवर्तन भी कुछ कम कष्टदायक न हुआ। बादशाह ने सनदें तो दे दी थी, किन्तु उसके सूबेदारों से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराना टेढ़ी खीर थी। निज़ामुलमुल्क, जो सैयदों के पश्चात् दक्षिण का सूबेदार हुआ, इन रियायतों के देने में, जो उसके स्वामी ने दबाव से मराठों को दी थीं, राजी न था, इसलिए आगामी बीस वर्ष तक बराबर मराठे सरदारों को निज़ाम से झगड़ना पड़ा। इस सुदीर्घ झगड़े में बालाजी के पुत्र बाजीराव, (दूसरे पेशवा) ने बड़ा नाम पैदा किया। पहले तो निज़ाम कुछ राजी सा हो गया, और शाहू की पाई हुई उक्त रियायतों को मंजूर कर लिया। परन्तु

सैयदों के पदच्युत होने के बाद निजाम ने कोल्हापुर के राजा को अपने हाथ में लिया; और उसका पक्ष लेकर शाहू के कर वसूल करनेवालों को रोकने की चेष्टा की। परन्तु इस विरोध को भी दूर करने में बाजीराव को सफलता मिली, और सन् १७२२ ई० में उन्होंने दूसरा नया फरमान प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् निजाम ने शाहू के हक सरदेशमुखी और चौथ पर इस कारण से आपत्ति की कि, उन्होंने दक्षिण में शान्ति स्थापित रखने का भार लेकर उसमें सफलता प्राप्त नहीं की। फिर दोनों में झगड़ा मचा, और उसको दूर करने के लिए शक्ति का उपयोग करना पड़ा। परन्तु अन्त में हैदराबाद के समीपवर्ती इलाके में चौथ और सरदेशमुखी का स्वत्व छोड़कर अन्य इलाकों में यथायोग्य परिवर्तन करके, निजाम को बादशाह के द्वारा स्वीकृत की हुई रियायतों का भार लेने पर राजी कर ही लिया। परन्तु निजाम ने सन् १७३० ई० में राजा कोल्हापुर का पक्ष लेकर फिर इस सरदेशमुखी और चौथ के हक पर झगड़ा आरम्भ किया। परन्तु पेशवा की विलक्षण बुद्धिमत्ता के कारण निजाम को फिर नीचा देखना पड़ा। और जो सहायता उसने राजा कोल्हापुर को देना स्वीकार किया था, वह उसको बन्द कर देनी पड़ी। कोल्हापुर के राजा को शाहू के सेनाध्यक्ष प्रतिनिधि ने पराजित किया, और कोल्हापुर तथा सतारा के राजाओं के बीच नई सन्धि स्थिर हुई, जिसके अनुसार समस्त स्वराज्य और दक्षिण के छै सूबों पर सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने का अधिकार शाहू का ही बना रहा; और राजा-कोल्हापुर को दक्षिण में वारना और तुङ्गभद्रा नदी के बीच के प्रदेश पर हा

सन्तोष करना पड़ा। इस प्रकार तीन लड़ाइयों और दो इक-रारनामों के बाद सन् १७३२ ई० के लगभग मुग़ल सम्राट् की दी हुई उन सनदों की पूरी पूरी पुष्टि हुई, और तब से फिर सभी विरोधी शक्तियां मराठों की सत्ता मानने के लिए बाध्य हुईं। यद्यपि झगड़े के कारण बिलकुल निर्मूल नहीं हुए, परन्तु इसके बाद फिर निज़ाम और पेशवा के उत्तराधिकारियों में सम्राट् के द्वारा मिले हुए उक्त स्वत्वों के उचित और अनुचित होने का प्रश्न नहीं उठा।

सन् १७८३ ई० में मराठे सरदारों और तत्कालीन निज़ाम सलाबतजङ्ग में लड़ाई हुई। निज़ाम पराजित हुआ, और सन्धि होने पर खानदेश और नासिक का सम्पूर्ण इलाका मराठों को मिल गया। सन् १७६० ई० में फिर एक झगड़ा हुआ, और उसमें भी मराठा फ़ौज ही सफल मनोरथ हुई, जिससे अहमदनगर की ओर का इलाका और अहमदनगर का किला पेशवा के राज्य में सम्मिलित हो गया। सन् १७६० ई० में इसी प्रकार फिर झगड़ा हुआ और शोलापुर तथा बीजापुर के ज़िले पेशवा को मिले। मराठों को जो युद्ध करनाटक में करना पड़ा, वह निज़ाम के साथ न होकर सावनूर के नवाबों से हुआ। यह युद्ध पेशवा बाजीराव और उनके पुत्र बालाजी बाजीराव ने बराबर जारी रक्खा। तीन बार युद्ध होने पर बीजापुर, धारवाड़ और बेलगांव के प्रान्त क्रमशः पेशवा के राज्य में सम्मिलित होते गये। यह कर्नाटक युद्ध सावनूर के नवाबों के पतन हो जाने पर भी, हैदर और टीपू से, जो कि मैसूर में सन १७६० से १७६० ई० तक राज्य करते रहे, जारी रहा। अन्त में परिणाम यह हुआ कि मैसूर के शासकों

ने हार खाई, और मराठों का राज्य तुङ्गभद्रा नदी तक पहुंच गया। पुर्तगीजों और जँजीरे के सिद्दियों से बाजीराव पेशवा के भाई चिमणाजी अप्पा और तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव की जो लड़ाइयां हुईं उनमें भी सफलता प्राप्त हुई। इन समस्त उपायों से एक ही शताब्दी के भीतर सम्पूर्ण महाराष्ट्र देश मराठा मंडल के अधीन होगया। राज्य की यह वृद्धि यद्यपि अनेक लड़ाइयों की विजय का फल थी, परन्तु इसकी नींव वास्तव में चौथ और सरदेशमुखी का स्वत्व ही था। इन झगड़ों के कारण 'स्वराज्य' ने धीरे धीरे खूब उन्नति की, और प्राचीन सनद के अनुसार वह जितना था उससे कहीं अधिक बढ़ गया। इसके सिवाय चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का स्वत्व जो पहले इस सनद के अनुसार ताप्ती नदी के दक्षिणीय छ सूबों तक परिमित था, बीस वर्ष के उपरान्त इन्हीं शर्तों पर समस्त राज्य में फैल गया। उत्तर का समस्त इलाका गुजरात, काठियावाड़, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, दुआब, नीमच, गोंडवाना, सम्भलपुर, उड़ीसा, आगरा, दिल्ली, अवध और बङ्गाल इत्यादि प्रान्त भी उसके अन्तर्गत आ गये। राज्य के इस विस्तार और प्रभाव पर एक परिच्छेद अन्यत्र लिखा जावेगा, परन्तु जो कुछ आवश्यक विषय था, उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। सरदेशमुखी और चौथ के स्वत्व ने मराठे सरदारों को राज्य के विस्तीर्ण और स्थापित करने में वह काम दिया, जो कि गत शताब्दी में कर लेकर सेना रखवाने की सन्धि-प्रणाली और भिन्न भिन्न विजयों ने वृटिश गवर्नमेंट को दिया है। इस उन्नति की रामकहानी में सब से बढ़कर मनो-

इससे प्रगट होता है कि मदरास प्रान्त में मराठा आबादी २,३०,००० थी। इसमें अगर हम मैसूर को चीन तथा ट्रावनकोर की २०,००० मनुष्यसख्या मराठों की सम्मिलित करलें, तो सब मिलकर अढ़ाई लाख २,५०,००० होती है। इसका विवरण नीचे दिया जाता है:—

(१)	गञ्जाम	२०५
(२)	विजगापट्टम	३६४
(३)	गोदावरी	६३४
(४)	कृष्णा	१४१४
(५)	नीलोर	८०७
(६)	कुडापा	३६७३
(७)	करनूल	४०८१
(८)	बेलारी	१४१६६
(९)	चिङ्गलपट्ट	१६३५
(१०)	उत्तरी अरकाट	११६६२
(११)	दक्षिणी अरकाट	१६५७
(१२)	तञ्जौर	१४४२१
(१३)	त्रिचनापली	१७६६
(१४)	मदुरा	१६४३
(१५)	तिनेवली	८३७
(१६)	सालेम	१६०६
(१७)	कोयम्बटूर	५५०
(१८)	नीलगिरी	७३०
(१९)	मलाबार	१९[illegible]
(२०)	दक्षिणी	

(२१)	मदरास (शहर)	४८३८
(२२)	पदुकोटा	६६०

इससे जान पड़ता है कि इस प्रान्त में एक भी ऐसा जिला नहीं है जिसमें कोई छोटी सी मराठा आबादी ऐसी न हो जिसने स्थायी रूप में वहा अपना घर न बना लिया हो। दक्षिणी कनारा, मलाबार, कोचीन और ट्रावनकोर नामक स्थान जहा मराठों की डेढ लाख आबादी है, वास्तव में समुद्री किनारे पर से जाकर उपनिवेश बनाये गये थे। सत्रहवीं शताब्दी में शहाजी और उनके पुत्र वेङ्कोजी ने, जो शिवाजी के सौतेले भाई थे, वस्तुत जिन राजनैतिक उपनिवेशों की स्थापना की थी, उनसे उपर्युक्त आबादियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में तञ्जार और उसके आस पास के जिले, उत्तरीय अरकाट, सलेम और शहर मद्रास, में शहाजी और उनके पुत्र के साथ आये हुए मराठा लोगों की आबादी बहुत अधिक है। ट्रावनकोर के राजा ने, तञ्जार का नाम 'मराठों का दक्षिणीय गृह' रक्खा था। सो ठीक ही है। यद्यपि पचास वर्ष से अधिक हुए, अगरेजी सरकार ने, राज्य के वारिस न होने के कारण, इसको सरकारी इलाके में सम्मिलित कर लिया है। परन्तु वहा की रानियों का अब तक सरकार की ओर से एक बडी रकम पेन्शन के तौर पर मिलती है, और उनकी निज की जायदाद भी बहुत कुछ है। जिस समय सन् १६६६ ई० स १६७५ ई० के बीच में इस राज्य की बुनियाद रक्खी गई थी, उस समय तञ्जोर जिले में दक्षिणी अरकाट के कुछ हिस्से और समस्त त्रिचनापल्ली सम्मिलित था। इन सैनिक उपनिवेशवालों में ब्राह्मण और मराठा दोनों जाति के लोग

के आश्रित मुहम्मदअली का पक्ष लिया, और फरासीसियों के सहायकों के हाथ से हानि उठाई। मुरारराव घोरपडे ने ऐसे समय में, जब अंगरेज राजा की सहायता करने में असमर्थ थे, तञ्जोर को लूटा। इसके पश्चात् फरासीसियों के सेनाध्यक्ष लाली ने भी लूट मार की, परन्तु उस समय अंगरेज सहायता पहुंचाने में सफल होगये। इन समस्त लड़ाइयों में तञ्जोर की फ़ौज में मणकोजी की अधीनता में अङ्गरेज़ों का पक्ष लेकर फरासीसियों का खूब सामना किया।

यद्यपि अङ्गरेज़ों का पक्ष लेकर तञ्जोर के राजाओं ने यह सब कुछ त्याग दिया, तथापि नवाब मुहम्मदअली अपने मन में तञ्जोर के धन-वैभव को देखकर ईर्ष्या रखता था। केवल अङ्गरेज़ों के बीच में पड़ने से राजा ने सन् १७६२ ई० में नवाब का आधिपत्य स्वीकार किया, और अङ्गरेज़ों की ज़मानत पर चार लाख रुपया 'कर' देना मञ्जूर किया। तत्पश्चात् सन् १७७१ ई० में नवाब ने मद्रास-सरकार की सहायता से प्रतापसिंह के पुत्र तुलसाजी पर चढ़ाई की। तुलसाजी ने सन्धि की प्रार्थना की। परिणाम यह हुआ कि उसकी रियासत का वैभव मारा गया, और तञ्जोर राज्य की आमदनी भी कम हो गई तथा रियासत पर बहुत सा कर्ज़ भी हो गया। इस दूसरे सन्धिपत्र के अनुसार राजा के हितों को, नवाब मुहम्मदअली और उसके अङ्गरेज साहूकारों के लाभों का विचार रख कर, खूब नष्ट किया गया। यही अंगरेज साहूकार मद्रास सरकार की नीति के सञ्चालक थे। सन् १७६२ ई० की प्रतिज्ञा, जिसके बल से अङ्गरेज तञ्जोर की स्वाधीनता के उत्तरदाता थे, भङ्ग कर दी गई। सन् १७७३ ई० में नवाब ने

अपने अङ्गरेज मित्रों के साथ मेल कर लिया, और फिर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। उसने राजा को कैद करके शहर पर अधिकार कर लिया, और उसकी रियासत को अपने राज्य में मिला लिया। ये समस्त बरबादी और विश्वासघात के काम, मद्रास सरकार ने अपने उत्तरदायित्व पर, नवाब के अङ्गरेज ऋणदाताओं के लाभों के लिए, किये थे। कम्पनी के डाइरेक्टरों को इसका कुछ ज्ञान न था, और जब उनको इन अन्यायपूर्ण कामों का पता लगा, तो उन्होंने मद्रास-सरकार की कार्रवाई को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा, और शीघ्र ही मद्रास के गवर्नर को वापस बुला लिया। इसके बाद उन्होंने तुलसाजी को फिर उसकी पैतृक राजगद्दी पर बैठाने का निश्चय किया, और इसके लिए आज्ञायें प्रचारित की। सन् १७७६ ई० में उन आज्ञाओं का पालन किया गया, परन्तु नवाब के तीन वर्ष के शासन में ही देश इतना चौपट हो गया था कि उसको, किसी न किसी अंश में, पूर्ण भांति वैभव सम्पन्न होने में दस वर्ष लगे। इस बीच में अङ्गरेजों की हैदरअली के साथ लड़ाई छिड़ गई, और हैदरअली ने अभागे तञ्जौर प्रान्त पर, सन् १७८२ ई० में, बदला लेने के लिए लूट मार की। इन कठिनाइयों और कष्टों में तुलसाजी ग्यारह वर्ष तक राज्य करके सन् १७८७ ई० में मर गया। चूंकि तञ्जौर अपने मुख्य महाराष्ट्र केन्द्र से अलग हो गया था, इसलिए मराठों की चढ़ाइयों और विजयों से तञ्जौर को कोई लाभ न पहुंचा, और वह बराबर अङ्गरेजों तथा हैदरअली से दबा रहा। इन बीस वर्षों के समय में उसने इस कष्ट उठाये कि भविष्य में टीपू के पतन और दक्षिणी भारत

में शान्ति स्थापित होने पर भी वह अपनी पूर्व-स्थिति को न पहुँच सका। उसको अपने भीतरी झगड़ों से भी हानि सहनी पड़ी। तुलजाजी के सौतेले भाई अमरसिंह ने उसके दत्तक पुत्र को राज्य से अलग कर दिया। मदरास सरकार का कर्ज रियासत पर इस समय इतना बढ़ गया था, और राज्य की आमदनी इतनी घट गई थी, कि राजा अपनी आवश्यकताओं को भी पूरा न कर सकता था। तुलजाजी के दत्तक पुत्र सरफोजी को डच मिशनरी मिस्टर स्वार्टज ने बड़ी सहायता दी, और कम्पनी के डाइरेक्टरों ने उसका गद्दी प्राप्त करने का स्वत्व स्वीकृत किया। सन् १७९८ ई० में उसको गद्दी मिल गई तथा अमरसिंह को पेन्शन लेकर अलग होने के लिए विवश होना पड़ा। मारक्विस आफ वेलजली ने जब टीपू की मृत्यु के पश्चात् मैसूर का प्रबन्ध किया, तो सरफोजी को इस बात पर राजी कर लिया कि वह अपनी रियासत में शासन को छोड़ कर नाम मात्र के लिए राजा बना रहे, और रियासत की मालगुजारी में से नियत की हुई पेन्शन ले लिया करे। फलतः वह अपनी इस शान और पेन्शन से चैन उड़ाता हुआ सन् १८३३ ई० में मर गया, और उसके बाद जब उसका पुत्र सन् १८४५ ई० में निःसन्तान मर गया, तब तञ्जौर की रियासत को कम्पनी ने जब्त कर लिया और रानियों को पेन्शन देकर उनके महलों में ही रहने दिया। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई थी, परन्तु दीर्घकाल तक मुकदमेबाजी करने के पश्चात् वापस मिल गई।

मराठों के इस छोटे सैनिक उपनिवेश का यह संक्षिप्त वर्णन है। मराठा-मंडल के सरदार मुगलों की शक्ति का मुका-

मला करके बीस वर्ष तक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए लडते रहे और अन्त में स्वतंत्रता प्राप्त भी कर ली, परन्तु तञ्जौरवाले, अपनी केन्द्रित शक्ति से अलग रहने के कारण, अपनी रक्षा के लिए कर्नाटक के झगडों में ही पडे रहे। इसके बाद प्रधान स्वतंत्र मराठी रियासतों में से तञ्जौर का नाम खारिज हो गया। निःसन्देह यदि यह रियासत भी मराठा-मंडल से अपना सम्बन्ध न तोडती, तो उन चढाइयों में इस रियासत को भी बडा लाभ हुआ होता, जो मराठा-मंडल की ओर से सन् १७६२ से सन् १७९२ ई० तक होती रहीं, और जिनमें उनको सदैव सफलता प्राप्त होती रही। यही नहीं, बल्कि उन चढाइयों में हैदर और टीपू सुलतान को भी एक बहुत भारी कर और मुल्क देने के लिए बाध्य होना पडा था, तब कहीं उन चढाइयों का ज़ोर कुछ कम हुआ। तञ्जौर के समान गुत्ती रियासत की भी वैसी ही दुर्दशा हुई। यह रियासत भी मराठा-मंडल से अलग रह कर अपना अलग ही स्वार्थ साधने का प्रयत्न करती रही। दक्षिणी भारत के इस मराठा सैनिक उपनिवेश के वृत्तान्त से जो उपदेश लिया जा सकता है, वह यही है कि, मराठा साम्राज्य की प्रबलता उसकी संघशक्ति में ही थी, और यदि उस संघशक्ति में कुछ भी विशृङ्खलता उत्पन्न हो जाय, तो अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना भी एक टेढ़ी खीर थी। मराठा साम्राज्य की शक्ति और उसकी दुर्बलता का उदाहरण उपर्युक्त वर्णन से भली भाँति सिद्ध हो जाता है।

तेरहवां परिच्छेद ।

मराठों के इतिहास की कुछ चुनी हुई बातें ।

परिशिष्ट (१)

(यह निबंध परलोकवासी माननीय काशीनाथ त्र्यंबक तैलंगजी ने ता० १७ सितम्बर १८९२ ई० को 'डेक्कन कालेज यूनियन' की सभा में पढ़ा था ।)

कैप्टन जेम्स ग्रांट डफ रचित 'मराठों का इतिहास' प्रमाणभूत है, और उसका बहुत सा भाग उनकी एकत्रित की हुई बखरें तथा असली पुराने कागजों के आधार पर लिखा गया है । उस सामग्री में से कई कागजों की प्रतिलिपियां बंबई की "लिटररी सोसायटी" में भी रखे जाने की बात उक्त महाशय ने स्वीकार की है । उनका वैसा करना तत्कालीन परिस्थिति के देखते सर्वथा योग्य ही था, क्योंकि जिस असली साहित्य के आधार पर उक्त महाशय ने अपना ग्रंथ लिखा, उसकी प्रामाणिकता के विषय में जांच करने के लिये मराठा-इतिहास-जिज्ञासुओं के लिये यह एक अच्छा साधन होगया । पर दुर्भाग्य की बात है कि उस सभा को बंद हुए बहुत दिन बीत गये, और उक्त महाशय की उन प्रतिलिपियों का भी कहीं पता नहीं ! लिटररी सोसाइटी के अनंतर रायल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित होगई, जिसकी एक शाखा बंबई में भी

हां, पहले माधवराव पेशवा के समय उस प्रणाली का अवलंबन अवश्य किया गया था। महाराजा शिवाजी के राष्ट्र-प्रबंध की खास बात 'केबिनेट कौंसिल' अर्थात् अष्ट-प्रधान मंडल की स्थापना है। उन अष्ट-प्रधानों में से एक को पंडितराव कहते थे। अन्य प्रधान या मंत्रियों तथा बड़े अधिकारियों की तरह पंडितराव को जो कार्य सौंपे जाते थे, उनका उल्लेख शिव-राज्याभिषेक शाके १ ज्येष्ठ कृष्णा १२ मंगलवार (सन् १६७४ ई०) को लिखे हुए एक प्राचीन पत्र में निम्न प्रकार से किया गया है:—पंडितराव को राज्य के धर्म-विषयक सभी कार्यों की देख-भाल करनी चाहिये। धर्मशास्त्र के अनुकूल लोगों का बर्ताव है या नहीं, इस बात की जांच करके दुराचारियों को दंड और विद्वानों का आदर करना चाहिये। धर्मशास्त्र की तीन शाखाएं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त—अर्थात् बर्ताव, दीवानी और फौजदारी तथा अपराधी ठहराये जाने पर प्राय-श्चित देने के बारे में जो हुक्म होते थे उन पर उन्हीं के हस्ता-क्षर हुआ करते थे। शांति तथा अन्य धार्मिक कार्य और सर-कारी धर्मादाय का कार्य भी उन्हीं के हाथ में था। चिटणीस-कृत शिवाजी-चरित्र में लिखा है कि, मंत्रिमंडल की रचना तथा मंडल के कर्तव्य-कर्म, पुरानी परिपाटी के अनुसार ही, महाराज शिवाजी ने निश्चित किये थे।

सन् १७१६ ई०, राज्याभिषेक शाके ४२, मार्गशीर्ष शुद्ध चतुर्थी गुरुवार का, शंभू छत्रपति महाराजा कोल्हापुर का लिखा एक आज्ञापत्र प्राप्त हुआ है। उसमें लिखा है,—राजा का यह भी एक कर्तव्य है कि, अधर्म की ओर से लोगों को परावृत्त किया जाय, प्रजा में धर्म-प्रीति बढ़ाई जाय और इस

प्रकार उन्हें परलोक में शाश्वत सुख का लाभ प्राप्त कराया जाय। इसी से उस आज्ञापत्र में एक यह भी नियम लिखा गया है कि, धर्म के विरुद्ध नास्तिक मतों का प्रचार कहीं पर भी न होने देना चाहिये; और यदि कहीं वैसा सुनाई पड़े, तो शीघ्र ही स्वयं तहकीकात करके उस मत के प्रचारक को दंड देना चाहिये जिससे उन अधर्म-कर्मों को कोई न करे; और वे नष्ट हो जावें।

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि, मराठे राजा अपनी प्रजा के धार्मिक कर्मों का नियमन करना अपना स्वत्व अथवा कर्तव्य मानते थे, और उस राज-कर्तव्य का पालन करने के लिये सर्वदा ब्राह्मण ही मंत्री नियत किये जाते थे। वे कर्तव्य-कर्म केवल कागजी घोड़ों की तरह ही नहीं थे, वरन् उन पर वास्तव में अमल भी किया जाता था। उदाहरणार्थ—महाराजा शिवाजी के अनन्तर उनके पुत्र सभाजी गद्दी पर बैठे। उनका कलुशा नामक एक प्रिय मित्र था। उसे कवजी (कवि जी ?) भी कहते थे। उसने अनेक घोर पाप किये, और वह बड़ा दुराचारी भी था। एक बार उसने सभाजी को सलाह दी कि, बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मणों को—जो अपने को छै शास्त्रों के गुरू कहलाते हैं—प्रायश्चित दिलाना चाहिये। तदनुसार सभाजी ने भी हुक्म दे दिया। धर्म-विषयक सारे कार्य पंडितराव मंत्री के हाथ में थे। उन्होंने सभाजी को उसके लिये बहुत कुछ समझाया; पर उन्होंने एक बात भी न मानी। तब बेचारे ब्राह्मणों को प्रायश्चित लेना पड़ा! वास्तव में ब्राह्मणों के कोई अपराध, प्राप्त सामग्री से, ज्ञात नहीं होते, और न उनके ज्ञात करने के कोई साधन ही हैं।

मुसलमान हू और मुझे तुम्हारे शास्त्र का ज्ञान नहीं है, अत अच्छा तो यही होगा कि तुम अपने पवित्र तीर्थ काशी जाकर वहा के पडितो से फैसला करा लाओ। उसका पालन कराना मेरा काम होगा" अनतर वे लोग काशी गये। वहा पर पडितो की बडी भारी सभा हुई और बहुत कुछ विवाद होने पर निर्णय किया गया कि प्रभू असली क्षत्रिय है, वेदानुकूल कर्म करने का उन्हें अधिकार है और गायत्री मत्र भी वे पढ सकते है। तब कहीं ब्राह्मणो को विश्वास हुआ और उन्होंने प्रभुओं को वदिक कर्म करने से नहीं रोका। अस्तु।

शिवाजी के पिता शहाजी के विवाह की चमत्कार-पूर्ण घटना से भी उक्त प्रकार का एक और उदाहरण ज्ञात होगा। शहाजी के पिता मालोजी और काका विठूजी निजामशाही के मनसबदार लखजी जाधवराव के यहा पर नौकर थे। सन् १५९८ ई० में जाधवराव के महल में रगपचमी का उत्सव हुआ। उस समय मालोजी भोंसले अपने पुत्र शहाजी को भी साथ लेगये थे। शहाजी की अवस्था उस समय ५ वर्ष की थी। अत उस स्वरूप-सुदर बालक-मूर्ति को जाधवराव ने अपनी तीन वर्ष की कन्या के पास बिठलाया। उस समय जाधवराव स्वाभाविक ही बोल उठे, "इन बालकों की जोडी बड़ी अच्छी मालूम देती है।" इसके बाद उन्होंने कन्या से विनोदपूर्वक कहा, "शहाजी तेरा दुलहा है—क्या यह तुझे पसद है ?" यह सुन कर मालोजी और विठूजी ने वहा पर उपस्थित लोगों से कहा, कि इन बालकों के विवाह के विषय में जाधवराव ने अनुकूल मत दिया है, और इस बात के आप साक्षी हैं। परन्तु जाधवराव की पत्नी को वह बात नहीं भाई, और

उसने उन दोनों भाइयों को नौकरी से हटा दिया। तब उन्होंने दो तीन हजार सिपाहियों की एक पलटन तैयार की, और फिर वे दौलताबाद के निकट एक स्थान पर पहुंचे, तथा कुछ सुअर मारकर वहां की एक मसजिद में डाल दिये, और निजाम को एक पत्र लिखा कि, आधवराव और हम में एक करार हुआ है। उस करार के अनुसार यदि आप विवाह संबंध कराने में सहायक न होंगे, तो इस मसजिद की तरह अन्य मसजिद भी हम भ्रष्ट कर डालेंगे। अतएव निजाम ने जाधवराव को विवाह के लिये बाध्य किया, और उन दोनों भाइयों का अपना आश्रय देकर, अपनी ही देख-भाल में, बड़े धूम-धड़ाके के साथ, विवाहोत्सव कराया। उस संबंध में कई बातें अपूर्व और अपवादक भी हुई, पर इससे यह बात सिद्ध होती है कि विवाह के विषय में भी हिन्दू प्रजा मुसलमानों से सहायता लेती थी।

खर्डा के युद्ध की खबर से भी ज्ञात होता है कि, धार्मिक विषयों में न्याय-व्यवस्था की जाती थी, और उस पर पूरा पूरा अमल भी किया जाता था। एक बार तलेगांव की एक ब्राह्मण स्त्री से एक मुसलमान का संबंध होगया। तब वहां के ब्राह्मणों ने इस बात की नाना फड़नवीस से शिकायत की और "अब ब्राह्मण भ्रष्ट हो चले" इत्यादि बातें कह कर उन्हें उत्तेजित किया। नाना को उस बात पर विश्वास नहीं हुआ, पर अंत में उसकी जांच करने के लिये पंच नियत किये। जब मुसलमानों ने पंचों को अपनी ओर मिला लिया और वह मामला असत्य साबित करने का वे कोशिश करने लगे, तब सौ दो सौ ब्राह्मण पूना पहुँचे। उस समय पेशवा खर्डा के

युद्ध के लिये जाने को तैयार थे। परन्तु वे लोग दोपहर के समय हाथ में मशालें लेकर पेशवा के तंबू के पास पहुँचे, और 'हरहर महादेव' की गर्जना की। पेशवा के पूछने पर उन्होंने कहा, आपके राज्य में अंधेर है और अन्याय हो रहा है, इसीसे हमने दिन में मशालें जलाई हैं। इस पर पेशवा ने नाना फड़नवीस को बुलवा कर पंचों और उस अपराधी स्त्री की जाँच की। पहले तो उस स्त्री ने चुप्पी साध ली, पर अंत में जब उसे दंड का भय दिखाया गया, तब उसने अपराध को स्वीकार किया। दण्ड में अपराधी मुसलमान को तो गधे पर उलटा चढ़ाकर बस्ती में घुमाने और फिर उसे हाथी के पैरों में बँधवा कर मरवा डालने का हुक्म हुआ, और स्त्री को प्राणदण्ड देना उचित न समझ कर देशनिकाले की सजा दी गई।

उक्त घटना से मराठे राजाओं के धार्मिक अधिकारों का हाल ज्ञात हो सकता है। वे राजा शासक और धर्मगुरु के नाते कानून बनाते थे। पंचों के द्वारा अपने निरीक्षण में फैसले करवाते थे। अन्यान्य सरकारी कार्य विभिन्न विभागों के मन्त्रियों के द्वारा होते थे, और कर्मचारियों के द्वारा नियमों की पाबन्दी की देखभाल हुआ करती थी। जिन कागजों में उक्त घटना का उल्लेख है, उनमें महाराज शिवाजी से लगा कर दूसरे माधवराव पेशवा के समय तक की घटनाओं की चर्चा की गई है। जो मराठे राजा धार्मिक अधिकारों के द्वारा फैसले करते थे वे क्षत्रिय माने जाते थे। जो ऐतिहासिक सामग्री अब तक प्रकाशित हुई है, उसमें ऐसे विषयों पर बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है। परन्तु उसमें शिवाजी के विषय में

जो कुछ लिखा गया है उससे ज्ञात होता है कि शिवाजी के क्षत्रिय होने की बात, राजनैतिक और उपयोगिता की दृष्टि से ही, समर्थनीय है, तो भी इस विषय में तत्कालीन सभी लोगों का एकमत नहीं था। सभासद और चित्रगुप्त रचित शिवाजी के चरित्रों में लिखा है कि, शिवाजी के घराने के मूल स्थान का खोज करने से पता चला है कि, उदयपुर के सीसोदिया राजपूत शासकों के ही वंशज थे। उनके राज्याभिषेक की बात छिड़ने पर ही उनकी जाति और कुल के विषय में अन्वेषण हुआ। चिटनवीस का इतिहास तत्कालीन, निश्चित सिद्धान्तों के ही आधार पर लिखा गया है। तो भी उसमें जाना जाता है कि अभिषेकोत्सव ही के लिये काशीजी से गागाभट्ट नामक पंडित बुलाया गया था। परन्तु जब उसने अभिषेक-विषयक मंत्रों का उच्चारण करने से इन्कार कर दिया, तब उसको राजनीति की बात समझाई गई, जिससे उसका समाधान हो गया, और फिर विधिपूर्वक राज्याभिषेक समाप्त हुआ। दूसरे एक और कार्य में शास्त्रार्थ की खींचातानी करनी पड़ी। राज्याभिषेक होने के पूर्व, क्षात्रधर्म के लिये, यज्ञोपवीत-संस्कार के किये जाने की आवश्यकता होती है, इसीसे शिवाजी को ४५ वर्ष की अवस्था में, जब उनके दो पुत्र हो चुके थे तब कहीं, उन्हें जनेऊ दिया गया। इस शास्त्र-विरुद्ध कार्य को करने के लिये सभी ब्राह्मण और पंडितों ने सम्मति दी। प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री से शिवाजी के वंशजों के अतिरिक्त किसी को भी जनेऊ नहीं पहिनाया गया था, और वह भी उनके राज्याभिषेक के समय ही। ऐसी दशा में चिटनवीस और सभासद के इस कथन के विषय में, कि

शहाजी सीसोदिया जाति का था, या जयपुर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी को क्षत्रिय मानकर उनके राज्याभिषेक के पूर्व ही उनसे रोटी-व्यवहार किया था, किसी को आशंका हो तो वह क्षम्य है। अनन्तर सितारा के राजा, ग्वालियर के सेंधिया, नागपुर के भोसले, घोरपडे और अन्य मराठे सरदार भी क्षत्रिय होने का दावा करने लगे। परन्तु शिवाजी के चरित्रावलोकन से हमें उक्त दावे के विषय में आश्चर्य नहीं होता। सभासद ने लिखा है कि, शिवाजी के अपूर्व स्वागत के कारण गागाभट्ट लट्टू हो गये, और उन्होंने कहा कि "जब कि मुसलमान बादशाह सिंहासन पर बैठ कर छत्र चामरादि चिन्ह धारण करते हैं, तब स्वपराक्रम से राज्य स्थापित करने वाले शिवाजी के राजचिन्ह धारण करने में क्या हानि है?" शिवाजी को यह युक्तिवाद बहुत ही भाया और उन्होंने राज्याभिषेक करने का निश्चय किया। बस, उसी समय शिवाजी की जाति का पता लगाकर उनके क्षत्रिय होने का प्रतिपादन किया गया। इस विषय की सभी बातों को विचार करने से ज्ञात होता है कि, केवल राजनीति की दृष्टि से जो सिद्धान्त स्थापित किया गया था, उसी को प्रमाण-सिद्ध मानने के लिये परिस्थिति और धर्मशास्त्रांतर्गत नियमों का बुद्धिपूर्वक अवलंबन करके उस सिद्धान्त की पुष्टि की गई। जो सामग्री हमें प्राप्त है, उससे उक्त प्रकार की चालबाजी और न्यूनाधिक महत्व के धार्मिक नियमों के स्पष्ट उल्लंघन की कई घटनायें मालूम होती हैं। उदाहरणार्थ—शिवाजी जब दिल्ली के कारागार से, सम्भाजी-सहित भाग निकले, और दक्षिण में पहुँचने के लिये मार्ग में अनेक अड़चनें देखीं, तब उन्होंने मार्ग में

काशीपंत नामक एक ब्राह्मण के यहां सभाजी को छोड़ दिया। वह ब्राह्मण सभाजी को अपना पुत्र बतलाता था, पर तो भी औरङ्गजेब के पक्ष के कुछ लोगों को आशङ्का हुई, अत उनके उस भ्रम को मिटाने के लिये उस ब्राह्मण ने, स्वधर्म के विरुद्ध मुसलमानों के कहने पर, एक ही थाली में सभाजी के साथ बैठ कर भोजन किया, और सभाजी के प्राण बचाये। चित्रगुप्त का कथन है कि उस ब्राह्मण ने अपने इस कर्म पर प्रायश्चित भी किया था। भोजन के समय, सभाजी को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार न होते हुए भी, उस ब्राह्मण का करा दिया गया था। अनंतर सभाजी को युवराज बनाने की इच्छा ही से शिवाजी ने सभाजी का सन् १६७८ के लगभग यज्ञोपवीत संस्कार कराया था।

शिवाजी के जनम में उक्त प्रकार की एक और घटना हुई थी। शहाजी की मृत्यु हो जाने पर जब उनकी पत्नी जीजाबाई सती होने लगी, तब शिवाजी ने माता को बहुत कुछ समझा कर कहा कि यदि तुम सती हो जाओगी तो मेरे भी अधिक दिनों तक जीने की आशा नहीं, जिससे बना बनाया महाराष्ट्र-साम्राज्य मिट्टी में मिल जायगा। यह सुन कर जीजाबाई ने अपना आग्रह छोड़ दिया। इसी प्रकार की कई घटनाएँ पेशवाओं के समय में भी हुई। पेशवा ब्राह्मण थे, और युद्ध करने का उनका पेशा न होने पर भी, उन्होंने धर्मशास्त्र का उल्लंघन करके, उसको स्वीकार किया था, परन्तु उसका इतना अधिक प्रचार होगया कि, उसके धर्म नहीं होने की किसी को आशंका भी नहीं हुई। जब पहले माधवराव पेशवा स्नान-सन्ध्यादि में अधिक समय बिताने लगे, तब

पंडित रामशास्त्री ने उनके कर्म का निषेध करके कहा कि, तुमने क्षत्रिय का पेशा स्वीकार किया है, अतः ब्राह्मणकर्म्म का अधिक अवलंबन करना योग्य नहीं है। इस घटना से ज्ञात होता है कि, धर्मशास्त्र का उल्लंघन हेय नहीं, वरन् वह कभी कभी आवश्यक भी माना जाता था। इसी प्रकार की इसी पेशवा की एक और भी बात कही जाती है। एक बार हैदर-अली पर चढ़ाई करने की तैयारी हो रही थी, अत नियमानुसार अपनी फौज सहित सम्मिलित होने के लिये नागपुर के भोंसला को पेशवा ने सूचना दी थी। भोंसला का वकील पूना में था ही, अतः उसने सखाराम बापू से परामर्श चाहा। उस समय बापू सरकारी नौकर नहीं थे, तो भी पेशवा के मुहर्रिर के पास ही होने के कारण स्पष्टरूप से वे कुछ भी कह नहीं सकते थे। परन्तु उस मुहर्रिर को ज्ञात न होते हुए भोंसला के वकील को समझाने की उन्होंने एक युक्ति निकाली। वह इस प्रकार कि, वहा पर दो सज्जन शतरंज खेल रहे थे, इनमें से एक को सबोधन करके बापू ने कहा कि 'अजी देख क्या रहे हो ? सामने के प्यादे बहुत आगे बढ़ गये हैं, इसलिये अपने राजा को एक दो घर पीछे हटाओ। भोंसले का वकील उस संकेत को समझ गया। उसने शीघ्र ही नागपुर को सन्देशा भेजा कि "पेशवा की इच्छा के अनुसार आप पूना मत आइयेगा। अगर नागपुर से चल दिये हों—एक दो मुकाम आगे भी बढ़ आये हों—तो भी पीछे लोट जाइयेगा।" इस पर भोंसले वापिस चले गये। माधवराव पेशवा के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके विषय में कोई बात चाहे जितनी गुप्त रखी जावे, तो भी वे उसे जान लेते थे, अत, भोंसले के वापिस लौटने

का भी उन्हें पता चल गया। तब उन्होंने उस घटना का यथार्थ हाल जानने के लिये बापू के पास रहनेवाले मुहर्रिर को बुलाकर उससे यथार्थ हाल पूछा, और सच्ची बात मालूम हो जाने पर भोंसले के वकील को बुला कर कहा कि, "बापू की सलाह से ही तुम्हारे स्वामी नागपुर को वापिस चले गये हैं। परन्तु अगर वे पन्द्रह दिन के भीतर यहां पर हाजिर न होंगे, तो तुम्हारे ब्राह्मण होने का कोई विचार न करके तबू की मेख से तुम्हारा सिर फोड़ा जावेगा।"

इससे भी बढ़ कर एक और दृष्टान्त लीजिए। एक ब्राह्मण मुहर्रिर ने, परशुरामपंत पटवर्धन के अन्तकाल का वर्णन करते हुए, लिखा है, "परशुराम भाऊ का अन्त अच्छा हुआ, क्योंकि उन्होंने पेशवा की नौकरी करके अन्त समय तक क्षत्रिय के कर्तव्य का पालन किया।" अच्छा यदि परशुरामपंत को एक गृहस्थ ब्राह्मण समझ कर उनके उदाहरण को छोड़ भी दिया जावे, तो भी हम कायगाव के पुरोहित और धावडसी के स्वामी के उदाहरण बतला सकते हैं। वे बड़े धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। तो भी ऐहिक और राजनैतिक विषयों में बिलकुल फँसे हुए थे। धावडसी के स्वामी के विषय में दंतकथाओं, बखरों और ग्रांट डफ के इतिहास की टिप्पणियों के अतिरिक्त असली कागजात हमें नहीं मिले। परन्तु कायगाव के पुरोहितजी के विषय में जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि, वे पेशवा को ब्याज पर रुपया देते थे, राजनैतिक बातों में उनका दखल था, और सार्वजनिक कार्यों में भी यदा कदा योग देते थे।

पंडित रामशास्त्री ने उनके कर्म का निषेध करके कहा कि, तुमने क्षत्रिय का पेशा स्वीकार किया है, अतः ब्राह्मणकर्म का अधिक अवलम्बन करना योग्य नहीं है। इस घटना से ज्ञात होता है कि, धर्मशास्त्र का उल्लंघन हेय नहीं, वरन् वह कभी कभी आवश्यक भी माना जाता था। इसी प्रकार की इन्हीं पेशवा की, एक और भी बात कही जाती है। एक बार हैदर-अली पर चढ़ाई करने की तैयारी हो रही थी, अतः नियमानुसार अपनी फौज सहित सम्मिलित होने के लिये नागपुर के भौंसला को पेशवा ने सूचना दी थी। भौंसला का वकील पूना में था ही, अतः उसने सखाराम बापू से परामर्श चाहा। उस समय बापू सरकारी नौकर नहीं थे, तो भी पेशवा के मुहर्रिर के पास ही होने के कारण स्पष्टरूप से वे कुछ भी कह नहीं सकते थे। परन्तु उस मुहर्रिर को ज्ञात न होते हुए भौंसला के वकील को समझाने की उन्होंने एक युक्ति निकाली। वह इस प्रकार कि, वहां पर दो सज्जन शतरंज खेल रहे थे, उनमें से एक को सबोधन करके बापू ने कहा कि 'अजी देखो क्या रहे हो? सामने के प्यादे बहुत आगे को बढ़ गये हैं, इसलिये अपना राजा को एक दो घर पीछे हटाओ। भौंसले का वकील उस संकेत को समझ गया। उसने शीघ्र ही नागपुर को सदेशा भेजा कि "पेशवा की इच्छा के अनुसार आप पूना मत आइयेगा। अगर नागपुर से चल दिये हों—एक दो मुकाम आगे भी बढ़ आये हों—तो भी पीछे लौट जाइयेगा।" इस पर भोंसले वापिस चले गये। माधवराव पेशवा के बारे में यह बात प्रसिद्ध है, कि उनके विषय में कोई बात चाहे जितनी गुप्त रखी जाने, तो भी वे उसे जान लेते थे। अतः भौंसले के वापिस लौटने

का भी उन्हें पता चल गया। तब उन्होंने उस घटना का यथार्थ हाल जानने के लिये बापू के पास रहनेवाले मुहर्रिर को बुलाकर उससे यथार्थ हाल पूछा, और सच्ची बात मालूम हो जाने पर भोंसले के वकील को बुला कर कहा कि, "बापू की सलाह से ही तुम्हारे स्वामी नागपुर को वापिस चले गये हैं। परन्तु अगर वे पद्रह दिन के भीतर यहा पर हाजिर न होंगे, तो तुम्हारे ब्राह्मण होने का कोई विचार न करके तबू की मेख से तुम्हारा सिर फोडा जावेगा।"

इससे भी बढ कर एक और दृष्टान्त लीजिए। एक ब्राह्मण मुहर्रिर ने, परशुरामपन्त पटवर्धन के अन्तकाल का वर्णन करते हुए, लिखा है, "परशुराम भाऊ का अन्त अच्छा हुआ, क्योंकि उन्होंने पेशवा की नौकरी करके अन्त समय तक क्षत्रिय के कर्तव्य का पालन किया।" अच्छा यदि परशुरामपंत को एक गृहस्थ ब्राह्मण समझ कर उनके उदाहरण को छोड भी दिया जाय, तो भी हम कायगाव के पुरोहित और धावडसी के स्वामी के उदाहरण बतला सकते हैं। वे बडे धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। तो भी ऐहिक और राजनैतिक विषयों में बिलकुल फँसे हुए थे। धावडसी के स्वामी के विषय में वृत्तकथाओं, बखरों और ग्राट डफ के इतिहास की टिप्पणियों के अतिरिक्त असली कागजात हमें नहीं मिले। परन्तु कायगाव के पुरोहितजी के विषय में जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि, वे पेशवा को ब्याज पर रुपया देते थे, राजनैतिक बातों में उनका दखल था, और सार्वजनिक कार्यों में भी यदा कदा वे योग देते थे।

साथ अन्त्य संस्कार करानेवाला कोई भी न निकला। अतएव अन्त में साधारण रीति से ही अग्नि-संस्कार किया गया।

धर्म के अन्य विषयों में भी अज्ञान उस समय था, जिसकी एक कथा प्रसिद्ध है। परन्तु यह किसी तरह उपर्युक्त अज्ञान की अपेक्षा क्षम्य है। जिन धावडशी के स्वामी को पहले बाजीराव पेशवा और अन्य लोग महापुरुष कहते थे, उनकी मृत्यु के विषय में उनकी बखर में लिखा है कि, यद्यपि स्वामी की मृत्यु हो जाने पर, स्मशान-यात्रा के लिए आये हुए ब्राह्मणों ने, हाथ में उक्त क्रिया की पोथी लेकर, वह संस्कार कराया, तो भी उनसे एक भारी भूल हुई। महाराजा शाहू ने जब पूछा कि, 'संस्कार यथाविधि हो गया?' तब ब्राह्मणों ने कहा, 'जी हां, पूर्ण हो गया।' पर महाराज को ज्ञात था कि, किसी स्वामी के समाधि लेने पर शस्त्र से शव का मस्तक फाड़ा जाता है, अतः उनके इस विषय में पूछने पर ब्राह्मणों ने अपनी भूल स्वीकार की। तब उसके अज्ञान के विषय में महाराज ने निषेध प्रकट किया। हमने इस अज्ञान को ऊपर क्षम्य बतलाया है, क्योंकि सर्वसाधारण के अन्तिम संस्कार के समय के मन्त्रों की सर्वदा आवश्यकता रहती है, अतएव ब्राह्मणों को उनका ज्ञान होना विशेष आवश्यक है। संन्यासियों के लिए यदा कदा काम पड़ता है, इस लिए यह क्षम्य है। तो भी तत्कालीन परिस्थिति के देखते हुए उक्त अज्ञान भी आश्चर्य-जनक ही है।

उक्त प्रकार की एक और बात कही जाती है। बापू गोखले के काका धोंडोपंत, धोंडी वाघ नामक पिंडारे के हाथों मारे गये थे। उस समय बापू भी वहीं पर थे और वे भी कुछ

घायल हुए थे। बापू ने अपने काका का शरीर वहीं पर जला कर जाति-धर्म नियम के अनुसार क्रियाकर्म करने के लिये पूना गये। उस समय घोडोपंत की पत्नी ने उनका निषेध करके कहा, 'जब तक शत्रु का पूरा बदला न ले लिया जाय, उनका और्ध्वदेहिक कर्म न किया जाय।' अन्त में जब वह शत्रु मारा गया; और बापू ने उसका सिर अपनी काकी लक्ष्मीबाई को दिखला दिया, तभी उनकी क्रोधाग्नि शांत हुई; और घोडोपंत का उक्त कर्म किया गया।

परशुराम भाऊ के चरित्र में एक महत्त्व की कथा है, पर प्रकाशित या अप्रकाशित अन्य ऐतिहासिक काग़ज़ों में उसकी चर्चा नहीं है। भाऊ की बयाबाई नामक कन्या का विवाह बारामती के जोशी के यहां पर हुआ था। विवाह के समय उसकी अवस्था केवल सात या आठ वर्ष की होगी। विवाह के अनंतर पंद्रह दिन के भीतर ही उसके पति की मृत्यु हुई। जब भाऊ ने यह घटना रामशास्त्री न्यायाधीश को सुनाई, तब उन्होंने कहा, 'इसका पुनर्विवाह करने में कोई हानि नहीं।' यहां तक कि काशी के विद्वानों ने भी उसके लिए सलाह दी थी। पर जब अन्त में भाऊ के इष्टमित्र पुनर्विवाह के पक्ष में न हुए, और समाज के विरुद्ध कार्य करने का उनको धैर्य न हुआ, तब उन्होंने वह विचार स्थगित कर दिया। परन्तु यह घटना इतिहास की दृष्टि से महत्त्व की है। परशुराम भाऊ पेशवा-दरबार के प्रतिष्ठित सरदारों में से थे। उनके जैसे धर्मनिष्ठ पुरुष का उक्त प्रकार के विचार से सहमत होना वास्तव में विचारणीय है। रामशास्त्री जैसे परम पूजनीय और श्रेष्ठ पंडित की, जिनकी उज्ज्वल कीर्ति सारे महाराष्ट्र साम्राज्य में

फैली हुई थी, इस विषय में सम्मति प्राप्त होना भी कम आश्चर्य-जनक नहीं, तथा काशी के विद्वानों की तत्प्रीत्यर्थ सहानुभूति प्राप्त करना और भी अधिक आश्चर्य की बात है। इससे तत्कालीन स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसी दशा में भी भाऊ का अपने विचार-पथ से विचलित होना उस समय के हिंदू-समाज की दशा का अच्छा दिग्दर्शक उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक और भी कथा है। परन्तु उसके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है। वह हम फ़ार्ब्स साहब के 'पूर्वीय लोगों का इतिहास' से उद्धृत करते हैं। वे महाशय सन् १७६६ और उसके बाद भी कई वर्ष तक पश्चिमीय भारत में रहे थे। उन्होंने लिखा है कि, "राघोबा दादा ने जिन दो ब्राह्मणों को इङ्गलंड भेजा था, उनके वापस लौटने पर उन्हें एक उत्तम सुवर्ण के स्त्रीलिंग से पार करके निकलना पड़ा, जो खास तौर पर बनवाया गया था। उक्त विधि होजाने पर उन ब्राह्मणों को दानधर्म करना पड़ा, और तब वे पहले की तरह अपनी जाति में मिलाये गये; क्योंकि अपवित्र देशों में प्रवास करने के कारण उनमें मलीनता उत्पन्न होगई थी।" इससे सिद्ध है कि जब भारतवर्ष एकछत्री ब्राह्मण-साम्राज्य--में था, तब भी "काला पानी" लांघने के महान् पातक का प्रायश्चित से क्षालन हो सकता था। परन्तु आजकल तो, कई लोगों के मतानुसार, द्विज लोग समुद्रयात्रा करके प्रायश्चित कर लेने पर भी, अपनी जाति में सम्मिलित नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त से तत्कालीन लोग और शासक पेशवा भी सहमत नहीं थे।

उक्त उदाहरणों से ज्ञात हो जावेगा कि, तत्कालीन प्रचलित नियमों की कठोरता जानबूझ कर कमज़ोर की गई थी।

परन्तु इसके विरुद्ध भी दो चार बातें लिखना आवश्यक है। प्राप्त सामग्री से पेशवा के घराने में कई बाल-विवाहों के भी होने का पता चलता है। पेशवाओं में बालाजी बाजीराव नौ, उनके पुत्र विश्वासराव आठ, माधवराव नौ, नारायणराव दस और दूसरे माधवराव नौ वर्ष की ही अवस्था में विवाहित हो गये थे। केवल पेशवा के ही घराने में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी, किन्तु नाना फडनवीस के आत्मचरित से भी ज्ञात होता है कि, उनका विवाह भी दस ही वर्ष की अवस्था में होगया था। इसी प्रकार प्रथम पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह करने के भी सैकड़ों उदाहरण हैं। पेशवाशाही के अंत में स्त्रियों के विषय में जो महत्व की घटनाएँ हुई, उनकी भी, मिती सहित, एक सूची प्राप्त हुई है। शाके १७२६, श्रावण शुद्ध १२ को पूना में नागझरी के पास विधवा-स्त्रियों के केश वपन की विधि हुई थी। ऐसे अमंगल कर्मों का अधिक हाल ज्ञात होता, तो आवश्यक थी। विवाहोत्सव के अनंतर वेश्या का नृत्य होता था, और धर्मपत्नियां ही नहीं, परन्तु बैठाली हुई स्त्रियां भी सती होती थीं।

उक्त सभी घटनाएँ और फुटकर बातें, जो एकत्रित करके हमने लिखी हैं, उनसे पूर्वकालीन राज्यों के मराठा मंडल की सामाजिक और धार्मिक स्थिति का कुछ पता चलता है। आजकल की प्रचलित बातें उस समय भी किसी न किसी अंश में थीं। ब्राह्मणी पद्धति का स्वाभाविक ही उस समय अधिक प्रभाव था। परन्तु पूर्व-परंपरागत नियमों का कई बार उल्लंघन किया गया था, और जैसा कि ऊपर कहा है, इसके लिए नवीन नवीन युक्तियां भी निकाली गई थीं। आजकल

लोग कहते हैं कि इस देश में अंगरेजी राज्य के कारण पश्चिमी विचारों के फैलने से ही धार्मिक और सामाजिक नियमों में शिथिलता आगई है। परन्तु यह बात निर्मूल है। हमारी समझ से यह शिथिलता पहले से ही थी। उपर्युक्त एक दो उदाहरणों में, उनके जो कारण लिखे गये हैं, उनसे कहा जा सकता है कि, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में जिन नियमों का पालन किया गया, वे मराठाशाही की परिस्थिति के भी योग्य नहीं थे। सम्भव है कि, प्रथमतः खास खास बातों में अयोग्यता देख पड़ती हो, और उस समय प्रचलित नियमों का उल्लंघन हुआ हो। इस प्रकार जब एक बार एक जगह मार्ग निकल आता है, तब दूसरी जगहों में भी वैसे ही मार्ग बन जाते हैं—फिर परिस्थिति चाहे उतनी अनुकूल न हो, तो भी कोई चिन्ता नहीं।

जनरूढ़ि को न मानने के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं उनमें कई ऐसे हैं, जो उस समय की परिस्थिति को ध्यान में लाकर, पूर्ण विचार करने के बाद, स्वीकार किये गये, पर कुछ ऐसे भी हैं कि जिनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, किन्तु परम्परागत नियमों की सर्वसाधारण शिथिलता जो उस समय हुई होगी, वही उनका भी कारण होगी। हमारा विश्वास है कि यदि पेशवा का राज्य नष्ट न होता, तो उक्त दोनों बातों में अधिक सुधार, नियमित सीमा तक, अवश्य, और शीघ्र ही, होते। यदि स्वदेशीय राजा ही राज्य करते होते, कि जिनके अधिकार-नियमों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, तो धार्मिक और सामाजिक सुधारों में कोई असुविधा उपस्थित न होती; और वे सुधार, कुछ प्रत्यक्ष और

कुछ अप्रत्यक्ष रूप से, अवश्य ही होते। पर अब चूंकि अंगरेज़ों के समान विदेशी लोगों का राज्य हो गया है, और वे अपनी ही पद्धति के अनुसार शासन-व्यवहार कर रहे हैं, इसलिए उपर्युक्त विषयों में सुधार होने में कठिनाई उपस्थित हो रही है। हां, इनके राज्य में पश्चिमीय शास्त्र और कला, इतिहास और साहित्य की शिक्षा का जो प्रचार हुआ, वह स्वदेशी राजाओं के समय में न होता। पर धार्मिक और सामाजिक सुधार तो, सुविधा के साथ, अवश्य ही होते।

बहुत दिन पहिले ही सर हेन्री समर मेन नामक विद्वान् पुरुष ने कह दिया है कि, ब्रिटिश न्यायालयों के स्थापित हो जाने से ही हिन्दू धर्मशास्त्र की प्रगति रुक गई। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि, ब्रिटिश राजसत्ता के प्रभाव के कारण हिन्दुओं की सामाजिक उन्नति भी रुक गई। इस विषय में विशेष विवेचन करने के लिए यहां स्थान नहीं है। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, हिन्दू-समाज में पहले जो शक्तियां कार्य करती थीं, वे ब्रिटिश राज्य के कारण निर्बल हो गई हैं, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रचार हो रहा है। उदाहरणार्थ—नाना फड़नवीस ने जन-रूढ़ि के विरुद्ध, जब कभी जो उचित जँचा, वही करने की अनुमति दी। पेशवा के मान लेने पर ब्राह्मणों ने भी पेशवा का निषेध नहीं किया। नाना ने कहा, "अशौच के लिए फिर देखा जावेगा, इस समय तो भोजन कीजिए।" परन्तु पीछे इसका कोई विचार नहीं किया गया, और यदि उसके लिए शास्त्र देखे जाते, तो कुछ न कुछ प्रमाण अवश्य मिलते; क्योंकि समाज में चलनता होती है; और वह हिन्दू-समाज में आ थी। सभी लोगों की संमति

स—चाहे वह गुप्त ही क्यों न होती—पहले के समाज-बंधन अवश्य ही ढीले हुए होते, और कुछ समय के अनन्तर जनता प्रत्येक सुधार को पसन्द करती। जो हो, हमारी समझ में तो पेशवाओं के जमाने में, और साधारण तौर पर सारे महाराष्ट्र साम्राज्य में, उस समय वैसी दशा थी। परन्तु आजकल की सुधार-विषयक दशा में उक्त बात बहुत कम दिखाई देती है और जहां ब्रिटिश प्राबल्य अधिक है, वहां पर तो सुधार की गति और भी मंद है। देखिये, प० कृष्णशास्त्री चिपलूनकर, जो समाज में एक प्रभावशाली व्यक्ति थे, उन्होंने एक युरोपियन मित्र के साथ बैठ कर जब जलपान किया, तब लोगों ने उनके विरुद्ध कैसा शोर गुल मचाया। उसके अनन्तर भी एक और वैसी ही घटना हुई थी। इससे यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि जो कुछ सुधार हो रहे हैं, या हुए हैं, उनकी गति बड़ी मंद है। इसके सिवाय, पेशवाई राज्य में सुधारों की जो चर्चा थी, उससे भी लोगों ने समुचित लाभ नहीं उठाया।

अब इस विषय को अधिक न बढ़ा कर यहीं समाप्त करते हैं। हमारा उद्देश्य यही था कि, बिखरी हुई सामग्री को एकत्र करके पिछले काल की कुछ बातों पर प्रकाश डाला जावे। उपर्युक्त बातों से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, इसके विषय में विशेष विचार अथवा वादविवाद यहां न करके अन्यत्र ही किया जाय, तो विशेष उपयुक्त होगा। हां, यह पर एक बात का खुलासा कर देना आवश्यक है कि, इस निबन्ध में जो बातें लिखी गई हैं, वे सब पुराने कागज़ पत्रों से ही ली गई हैं। हां, हमने इस बात के जांचने का प्रयत्न नहीं

किया कि, कौन से कागज पत्र उस समय के हैं कि, जब उक्त घटनाएँ हुईं, और कौन से कागज-पत्र पीछे के हैं। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, उनमें से अधिकांश कागज-पत्र समकालीन नहीं हैं। पर इस विषय में विशेष खुलासा करने की यहां आवश्यकता नहीं दिखाई देती। प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रोट ने प्राचीन ग्रीक लेखों के विषय में लिखते हुए कहा है कि "पड़दा ही चित्र है।" सच्चा चित्र छिप गया है। उसके देख पड़ने का कोई मार्ग नहीं है। ऐसी दशा में उस चित्र को ढक लेनेवाले पड़दे का मूल्य ही उस चित्र के समान समझना चाहिये। क्योंकि सच्ची दशा जानने के लिए और कोई साधन ही नहीं। ऐसी दशा में जिन कागज-पत्रों से, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से ही, कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उन्हीं कागज-पत्रों का सहारा लेना पड़ता है। ये सब कागज पत्र बहुत प्राचीन काल के हैं, और अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें जो बातें लिखी हैं, वे कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, इस विषय में यहां विशेष विवेचन करने की आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

चौदहवां परिच्छेद।

पेशवाओं के रोजनामचों से कुछ वृत्तान्त।

परिशिष्ट (२)

(यह निबन्ध स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे महाशय ने बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी में ३० जून सन् १९०० में पढ़ा था।)

गत दो तीन वर्ष से हमने अपने अवकाश का प्रायः सारा समय पेशवाओं के रोजनामचों के चुने हुए अवतरणों को पढ़ने में बिताया है। ये चुने हुए अवतरण मूल मराठी कागजों से रावबहादुर वाड ने निकाले हैं। महाराज शाहू के सिंहासनारूढ़ होने के समय से लेकर दूसरे बाजीराव पेशवा के राज्य के अन्तिम समय तक का वृत्तान्त उन अवतरणों में आ गया है। वाड महाशय ने अंगरेजी भाषा में उपर्युक्त अवतरणों का सार निकाल कर लिखा है, उसको मिला कर इन अवतरणों के लगभग बाईस हजार पृष्ठ होते हैं। इनमें सन् १७०८ ई० से लेकर सन् १८१६-१७ तक के सौ वर्ष से कुछ अधिक समय का इतिहास आता है। इस लम्बे और क्रान्ति युक्त समय में महाराष्ट्र लोगों के इतिहास का जो सच्चा स्वरूप था, उसको जानने के लिए इन अवतरणों के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण साधन नहीं है। स्वयं महाराष्ट्र में जो बखरों के रूप में मराठों का इतिहास उपलब्ध है, और ग्रांट डफ के समान आंग्ल इतिहासकारों ने जो ग्रन्थ मराठों के इतिहास

पर लिखे हैं, उनमें प्राय. राजकीय बातों का ही वर्णन विशेष पाया जाता है। परन्तु तत्कालीन-हिन्दू लोगों की दशा, उनका जीवनक्रम, उनकी उन्नति के कारण, उनके मनोरंजन के साधन, उनके विचित्र विचार, उनकी श्रद्धा, उनका आचरण, उनके रीति-रवाज, इत्यादि विषयों पर इन ग्रन्थों से अथवा बखरों से बहुत ही थोड़ा प्रकाश पड़ता है—अथवा यह कहने में भी आपत्ति न होगी कि, उपर्युक्त विषयों पर इन ग्रन्थों से बिलकुल ही प्रकाश नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थों में इन बातों का भी कोई स्पष्ट वृत्तान्त नहीं पाया जाता कि, स्वदेशी राजछत्र के आश्रय में राज्य व्यवस्था का क्या हाल था, लगान-मालगुजारी का कैसा बन्दोबस्त था, किलों का क्या प्रबन्ध था, आबकारी, नमक, कर इत्यादि विभागों से जो वसूली होती थी, उसकी आमदनी और खर्च कैसे होता था, सेना की तैयारी और उसके वेतन का वितरण कैसे होता था, जहाजी बेड़ा किस प्रकार उड़ा करते थे, सरकार कर्जा किस प्रकार निकालती थी, दीवानी फौजदारी कानूनों का अमल किस प्रकार होता था, पुलीस, डाक, टकसाल, जेल, धर्मादाय, नियुक्तियां, लोकोपयोगी कारखान, दवाखाने, स्वास्थ्य, इत्यादि भिन्न भिन्न विभागों का प्रबन्ध कैसा था, उद्योग-धंधों को उत्तेजना कैसे दी जाती थी, विद्या की वृद्धि कैसे की जाती थी, इत्यादि। निस्सन्देह यह बड़े कौतूहल की बात है कि अभी सिर्फ सौ वर्ष हुए उपर्युक्त भिन्न-भिन्न विभागों की ओर हमारे स्वदेशी राजाओं का पूरा पूरा ध्यान था, और राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी विकट प्रश्नों को, वे बड़ी खूबी के साथ, हल करते थे। सामा-

जिक सुधार का कार्य भी उन राजाओं ने, अत्यन्त धैर्य के साथ, अपने हाथ में ले लिया था। परन्तु आजकल अवश्य ही ऐसा माना जाता है कि, इस काम से सरकार को कोई सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त सब बातों के विषय में, पेशवाओं के दफ़र में, बड़े बड़े अधिकारियों ने, जो सरकारी रोजनामचे लिखे थे—और जो सौभाग्य से उपलब्ध भी हैं—वे बहुत ही अमूल्य हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें कोई त्रुटि नहीं। फिर भी, जब कि और कोई श्रेष्ठ साधन उपलब्ध नहीं हैं, तब उक्त रोजनामचों से ही इन बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है कि, उपर्युक्त सौ वर्ष या इससे भी अधिक समय तक महाराष्ट्र के लोगों में क्या हलचल मची थी, उनकी महत्वाकांक्षाएँ क्या थीं, उन पर कैसे कैसे संकट आये, उनकी शक्ति क्या थी, और उनमें दुर्बलताएँ क्या थीं। सचमुच ही यदि सद्‌बोध और सन्मार्ग-प्रदर्शन की दृष्टि से देखा जाय, तो युद्ध और चढ़ाइयां, राजघराने की बड़ी बड़ी घटनाएँ और राज्यक्रान्तियां, कि जिनका प्रायः अधिकांश इतिहासों में बाहुल्य रहता है, उनकी अपेक्षा इन रोजनामचों का महत्व अधिक है।

हमारा विचार है कि हम इस निबन्ध के द्वारा अपने मराठा-इतिहास-प्रिय पाठकों को पेशवाओं के उपर्युक्त कागज-पत्रों का कुछ वृत्तान्त बतलावें। इन कागजपत्रों में अनेक ऐसी बातें हैं, जिनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मराठा-मंडल की बराबर उन्नति होती गई, और उसका प्रभाव सारे भारत में फैल गया। यहां तक कि सब देशी राजा लोग, मुसलमान, हिन्दू, सिक्ख, जाट, रुहेले, राजपूत, काठियावाड़ी, गुजराती, पोर्चगीज,

निजाम, तैलंग और द्रविड देश में महाप्रतापी हैदरअली तक मराठा-मंडल के प्रभाव में आगया था। फिर उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में मराठा-संघ धीरे धीरे टूट गया, और अन्त में वह बिलकुल नष्ट ही होगया। मराठों के इस उत्थान और पतन के कारणों का भेद भी हम यहां दिखलाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे पाठकों को हमारे इस निबन्ध के आशय को समझने में सुविधा होगी। शिवाजी के वंशजों के हाथ से जिस समय राज्य चला गया, और शाहू महाराज का स्वर्गवास होगया, तब मराठा-राजधानी का स्थान सितारे से पूने को लाया गया—बस, यही समय उस शताब्दी को दो भागों में विभाजित करनेवाली रेखा है। उसी समय से सारी सत्ता ब्राह्मण पेशवाओं के हाथ में आई। महाराज शाहू ने अपने अन्त समय में मृत्युपत्र लिख कर इस शर्त पर पेशवाओं को सारा राज्यप्रबन्ध सौंप दिया कि, पेशवा सब राजकाज देखें, सिर्फ महाराज का नाममात्र चले; और राजघराने की प्रतिष्ठा बनी रहे। आगे चल कर शाहू के वंशज रामराजा ने भी उक्त मृत्युपत्र को स्वीकार कर लिया, और इस शर्त पर पेशवाओं को सारा अधिकार सौंप दिया कि, सितारे के आसपास का कुछ प्रान्त स्वयं हमारी देखरेख में बना रहने दिया जाय। आगे चलकर मराठा की चढ़ाइयों के प्रचण्ड प्रवाह को रुद्ध करनेवाला पानीपत का घनघोर संग्राम हुआ। इस संग्राम को ही उस शताब्दी के पूर्वार्ध की ऐतिहासिक सीमा कह सकते हैं। इसके आगे के साठ वर्षों में राजकर्ता पेशवा, और सम्पूर्ण महाराष्ट्र की प्रजा, इन दोनों की अनेक त्रुटियां, एक के बाद एक, दिखाई देती हैं; और यह भलीभांति मालूम होजाता है

कि सन् १८१७ में, जब कि सारा देश अंगरेज़ों के अधिकार में चला गया, उसके पहले ही राष्ट्र की कैसी दुर्दशा होगई थी। इस अन्तर के स्पष्ट रूप से मालूम हो जाने पर यह बात भली भांति ध्यान में आ जायगी कि, शिवाजी ने जिन सिद्धान्तों पर राज्य को स्थापित किया था, और उनके बाद, राजाराम और शाहू के समय में भी, अधिकांश में, जिन सिद्धान्तों का पालन किया गया था, उन सिद्धान्तों से पेशवाओं की राजकीय नीति कैसी च्युत होती गई, और सच्ची राजनीति की ओर उनका ध्यान नहीं रहा, किन्तु उनके अन्दर इस पुरातन ब्राह्मणी भावना का प्रादुर्भाव होगया कि, जो कुछ हैं, हम ही श्रेष्ठ हैं; और हम सब से निराले हैं! बस, इन्हीं कारणों से मराठा-साम्राज्य-वृक्ष में दीमक लग गई, और अन्त में वह वृक्ष समूल उखड़ कर गिर पड़ा।

राज्य-रचना।

मराठा-साम्राज्य में समय समय पर राज्य-रचना में जो फेरफार हुए, उनकी ओर पहले ध्यान देना चाहिए। एशियाटिक सोसाइटी में "शिवाजी की राज्यव्यवस्था" पर हमने जो निबन्ध पढा था, उसमें, मुल्की और फौजी अधिकारियों—अर्थात् मुख्य आठ प्रधानों के राजमण्डल, या अष्ट प्रधानमंडल, का स्थूल स्वरूप कुछ विस्तृत रीति से हमने दिखलाया था। महाराज शिवाजी ने जो राज्यप्रबन्ध सदैव के लिए स्थिर कर दिया था, उसमें दो सरनौबत अथवा फौजी अधिकारी रखे गये थे। एक के हाथ में रिसाले का आधिपत्य दिया गया था, और दूसरा पैदल सेना का अध्यक्ष था। पेशवा के हाथ में मुख्य प्रधान का कार्य था, और मंडल के कायदों को

अमल में लाने का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में था। पन्त-अमात्य के हाथ में महसूल और हिसाब का कामकाज था। जमा-खर्च और जाँच पड़ताल का कार्य पन्तसचिव के हाथ में था; और परराष्ट्र-सम्बन्धी कार्य सुमन्त के हाथ में था। राजमहल की भीतरी व्यवस्था का कार्य मन्त्री नामक एक और ही अधिकारी के हाथ में था। इनके अतिरिक्त न्यायाधीश और न्यायशास्त्री अथवा पण्डितराव नाम के दो केवल मुल्की अधिकारी थे। एक के हाथ में न्यायविभाग और दूसरे के अधिकार में धर्मशास्त्र का विभाग था। इनमें से एक भी अधिकार वंशपरम्परा के लिए नहीं था, किन्तु बार बार अधिकारियों की बदली होती रहती थी। उदाहरणार्थ—पेशवाओं का अधिकार लगभग सौ वर्ष तक भिन्न भिन्न चार घरानों के पुरुषों में रहा, परन्तु फिर इसके बाद बालाजी विश्वनाथ के घराने में वंशपरम्परा के लिए होगया। पन्त-प्रतिनिधि, सचिव और मन्त्री के पद तीन घरानों में रहे, परन्तु फिर ये भी एक ही घराने में आगये। सेनापति का पद पालकर, गूजर, मोहिते, घोरपड़े, जाधव, इत्यादि आठ भिन्न भिन्न योद्धा घरानों में रहा, परन्तु फिर इनके बाद दाभाडे के वंश में यह भी परम्परागत हो गया। नीचे दरजे के अधिकारिमण्डल का भी ऐसा ही हाल समझ लीजिए। इस अधिकारिवर्ग का दरजा यदि देखा जावे, तो ऐसा जान पड़ता है कि पन्त-प्रतिनिधि की अपेक्षा पेशवा का मान कम था। पन्तप्रतिनिधि का पद राजाराम ने, जिंजी में रहते समय, नवीन ही रचा, और उस पद पर प्रह्लाद नीराजी की नियुक्ति की। प्रतिनिधि का वेतन १५००० होन और पेशवाओं का

१३००० होन था। मन्त्री, सेनापति और सचिव में से प्रत्येक को १०००० होन मिलते थे। न्यायाधीश को सिर्फ एक ही हजार मिलता था। पहले के पन्त-अमात्य कोल्हापुरवालों के यहां चले गये। इस लिए सितारे के अमात्य अथवा राजाज्ञा का अधिकार बहुत कम होगया था। उपर्युक्त अधिकारियों को वेतन के अतिरिक्त कुछ सरंजाम और नकद नियुक्तियां भी थीं। ये बड़े बड़े विभाग स्थायी रूप से स्थापित किये गये थे, और उन पर दीवान, मुजूमदार, फडणीस, सबनीस, कारखाननीस, चिटनीस, और पोतनीस, इत्यादि छोटे छोटे अधिकारी नियत थे। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में, और प्रत्येक बड़ी फौजी छावनी में, दरकदार, दीवान, फडनीस, मुजूमदार, इत्यादि कुछ पद जोड़े गये। इन नीचे दरजे के अधिकारियों की नियुक्ति प्रधान सरकार की ओर से होती थी, और सेनापति के समान बड़े अधिकारी लोग सिर्फ उन लोगों से काम भर लिया करते थे। नौकरी से पृथक् करने का भी उन्हें अधिकार न था। यही छोटे अधिकारी हिसाब तैयार करके प्रधान सरकार के पास भेजते थे। कार्य का विभाग इस रीति से किया गया था कि, प्रत्येक अधिकारी का दबाव दूसरे पर रहता था, और प्रत्येक की प्रत्येक को गरज रहती थी। यह परस्परावलम्बन और परस्पर-अधिकार तत्व किलेबन्दियों में, जहाजी बेड़ों में, और कर विभाग के सब बड़े बड़े कार्यालयों में भी प्रारम्भ किया गया था। किलों का प्रबन्ध यह था कि, वहां जितने बड़े बड़े अधिकारी रहते थे, वे सब तीन जातियों से नियुक्त किये जाते थे। हवलदार अथवा नाइक मराठा जाति का होता था, सब-

नीस ब्राह्मण होता था; और कारखाननीस प्रभू जाति का रहता था। इसी राज्यप्रबन्ध के कारण मराठा साम्राज्य की उस महान् संकट से रक्षा हुई थी कि जो शिवाजी के मृत्यु के बाद उस पर उपस्थित हुआ था। यह बात सच है कि सम्भाजी ने इस अन्तर्व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था, परन्तु राजाराम ने अवश्य ही शिवाजी के आदर्श का पूरा पूरा ध्यान रक्खा था; और जिंजी में रहते समय भी उन्होंने अष्टप्रधानों की स्थापना की थी। इसके बाद जब शाहू महाराज सिंहासनारूढ हुए, तब उन्होंने प्रधानों की बदली कर दी, किन्तु प्रधानमंडल जैसा का तैसा कायम रहा। प्रत्येक प्रधान के हाथ में उसका स्वतंत्र विभाग रहता था। इसके सिवाय सेनापति का कार्य भी उसको करना पड़ता था। हां, न्यायाधीश और पंडितराव को फौजी काम नहीं करना पड़ता था। शिवाजी के शासनकाल में, तथा शाहू महाराज के सिंहासनारूढ रहते समय भी, प्रतिनिधि, सचिव, मंत्री और अमात्य ने, सेनापति और पेशवा के समान ही, लड़ाई में बहादुरी दिखला कर सरकार की सहायता की थी। जब कोई विशेष अवसर आ जाता था, उस समय सलाह मशविरा के लिए भी इस प्रधान-मंडल की बैठक हुआ करती थी। प्रधान मंडल के विषय में इस प्रकार का वृत्तान्त जगह जगह लिखा हुआ पाया जाता है कि, आज अमुक राजकीय नीति का प्रारम्भ किया गया, अथवा अमुक न्याय-इन्साफ किया गया, स्वदेश और परदेश में मराठा सरकार की इज्जत कायम रखी गई, इत्यादि। पहले बाजीराव पेशवा ने राज्यविस्तार की यह नीति, कि "दिल्ली तक धावा

में सैन्य लेकर नहीं गये थे, परन्तु फिर भी सैन्य का सञ्चालन उन्हीं की आज्ञा से होता था। इसी प्रकार सेनापति की नियुक्ति अथवा बदली उनकी आज्ञा के बिना नहीं हो सकती थी। सारा सरदारमंडल तो अवश्य ही पूर्णतया उनके कब्जे में था। डभाई की लड़ाई होने के बाद पेशवा और दाभाडे अथवा गायकवाड़ के मध्य गुजरात का जो बराबर विभाग हुआ, वह शाहू महाराज के प्रयत्न से ही हुआ था। बालाजी बाजीराव पेशवा जब बंगाल पर चढ़ाई करने को निकले, तब रघूजी भोसला ने महाराजा के पास सितारे जाकर इस विषय में कहा सुनी की। बालाजी बाजीराव की महत्वाकांक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी। पर शाहू महाराज भी काफी गम्भीर मिजाज के थे। उन्होंने पेशवा की महत्वाकांक्षा को साध लिया, और रघूजी भोसला को अपनी सत्ता बढ़ाने का मौका देने के लिए उन्होंने भारत के पूर्वीय प्रान्तों को बिलकुल ही छोड़ देने के लिए बालाजी को बाध्य किया। शाहू के समय में बाजीराव पेशवा एक जबरदस्त सेनापति थे, और प्रतिनिधि, भोसले, निम्बालकर, दाभाड़े, गायकवाड़, कदम, थोडे, आंग्रे, घोरपडे, इत्यादि सरदार लोग उनकी आज्ञा का आदर करते थे। परन्तु महाराज शाहू के बाद इस सरदारमंडली पर अंकुश रखने वाला कोई न रहा, और पेशवाओं की कोई परवाह ही न करने लगा। जानोजी भोसले और दमाजी गायकवाड़ पर पेशवाओं ने अपना दबाव रखा था। इस लिए सिर्फ लाचारी-वश, बड़ी नाराजी के साथ, ये दो सरदार पेशवाओं के हाथ में रह गये थे। सच तो यह है कि पहले चार पेशवाओं को जो सुयोग प्राप्त हुआ था, वह फिर आगे के पेशवाओं को प्राप्त

नहीं हुआ। उसमें भी वे पेशवा, जो आगे चल कर गद्दी के अधिपति हुए, अवस्था में बिलकुल छोटे थे, इसके सिवाय उस समय पूने में भीतरी झगड़े भी बहुत शुरू हो गये थे। ऐसी दशा में गायकवाड़ और भोंसले भी राष्ट्रहित की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते थे। यह सच है कि सेंधिया, होलकर और पटवर्धन इत्यादि सरदारों ने बहुत दिन तक स्वामिभक्ति की रक्षा की थी, परन्तु इसमें बिलकुल ही सन्देह नहीं कि पहले की समतोल सत्ता का सिद्धान्त अब प्रायः बिलकुल ही नष्ट हो चुका था। नाना फडनवीस ने बड़ी कोशिश की कि, उक्त सब सरदार अपना अपना निज का हित एक ओर रख कर राष्ट्रहित की ओर पहले ध्यान दें, पर इस कार्य में उनको भी सफलता प्राप्त न हुई। ये सब सरदार लोग परराष्ट्रों से शान्ति की सन्धियां करके अपनी अपनी निज की सत्ता बढ़ाने की धुन में लग गये। नाना फडनवीस ने फिर भी प्रयत्न किया कि सवाई माधवराव के पीछे सितारे के राजा की सत्ता स्थापित कर दी जाय कि जिससे उक्त भूल की दुरुस्ती हो जाय, पर अन्त में उनको भी यह बात उस समय असम्भव सी ही मालूम हुई। क्योंकि सरदार लोगों में अब काफी फूट हो चुकी थी, इस लिए अब फिर से एकता होना बिलकुल टेढ़ी खीर थी। पेशवा लोगों ने यदि प्राचीन राजमंडल को कायम रख कर अपने को सिर्फ परम्परागत राजाओं का प्रतिनिधि माना होता, पहले की राज्यपद्धति को अबाधित रखा होता और शिवाजी ने कुछ विशिष्ट पदों और अधिकारों के लिए जो विशिष्ट प्रकार के लोगों की नियुक्ति की थी, उनको यदि पेशवाओं ने व्यर्थ का महत्व न दे दिया होता, और उन्हीं

के द्वारा यदि सम्पूर्ण राज्य शकट को हाकने का प्रयत्न न किया होता, तो कोई कारण नहीं था कि शिवाजी, राजाराम और शाहू के समय में राजमंडल ने जैसे बड़े बड़े महान् कार्य सम्पादन किये थे, वैसे इस ब्राह्मण राज्य में वह न करता। बस, शिवाजी महाराज की राज्य-व्यवस्था, और उसके स्थान में पूने में प्रस्थापित होने वाली पेशवाओं की नवीन सत्ता में जो मुख्य भेद है, सो यही है। और यह भेद यदि न पड़ गया होता, तो महाराष्ट्र साम्राज्य की जो दुर्दशा हुई, सो भी न हुई होती। यह भेद कोई मामूली भेद नहीं है; किन्तु यह एक ऐसा भेद है कि जैसे सजीव सर्वांगीण सुन्दर देह एक निर्जीव मांस के गोले में रूपान्तरित हो जाय। बस, इसी भेद के कारण मुसलमान राज्यकर्ताओं की भांति मराठों में भी "अपनी अपनी डफली, अपना अपना राग" की कहावत चरितार्थ होने लगी। छत्रपति शिवाजी ने राजमंडल की स्थापना करके जिस घातक पद्धति को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया था, और जिसमें उन्होंने पूरी पूरी सफलता प्राप्त की, वही आत्मघातक पद्धति पेशवाओं के शासनकाल में फिर जारी हो गई।

जाति की बड़ाई।

शिवाजी और शाहू के शासनकाल और पूने के पेशवाओं के शासनकाल में एक और भी बड़ा भारी अन्तर दिखाई देता है, और वह यह है कि, पहले शासनकाल में प्राय अधिकांश बड़े बड़े फौजी अधिकारी मराठा जाति के थे। सिर्फ पेशवा ही ब्राह्मण थे। परन्तु दूसरे शासनकाल में सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध लोग प्राय ब्राह्मण ही थे। पहले के "स्वाधीनता के युद्ध' में धनाजी जाधव और सन्ताजी घोरपड़े मराठों के

प्रसिद्ध सेनापति हुए। निम्बालकर, अतोले, भोंसले, पवार, आंग्रे, दाभाड, सरदेसाई ने लड़ाई में बड़ी शूरता दिखलाई। इसी लड़ाई के कारण शाहू महाराज की, निनार की गद्दी पर, स्थापना हुई। शिवाजी के समय में मोरोपन्त पिंगले, हनमन्ते, आवाजी सोनदेव, दत्तो अण्णाजी इत्यादि रणशूरवीरों ने, तथा गूजर, माहिते, पालकर, कंक, मालुसरे इत्यादि योद्धाओं ने भी अपना शौर्यवीर्य प्रकट किया। स्वाधीनता के युद्ध में ब्राह्मण लोगों ने अपना कौशल राजनीति सलाह-मशविरे में ही दिखलाया था। रणांगण में उनकी प्रसिद्धि कभी नहीं हुई थी। दूसरे पेशवा बड़े बाजीराव के समय में भी मल्हारराव होलकर, पिलाजी जाधव, राणोजी सेंधिया और उनके तीन लड़के, इत्यादि मराठा जाति के ही लोग अगुवा थे। बालाजी बाजीराव अर्थात् नाना साहब पेशवा के समय में भी मराठे सरदारों की ही श्रेष्ठता कायम थी। ब्राह्मण राजनीतिज्ञ सिर्फ मुल्की काम पर थे। हां, पेशवा घराने के लोग अवश्य ही योद्धा का काम करते थे। पर जब से राजधानी का शहर पूना निश्चित हुआ, तभी से सारा कारोबार बदल गया। सन् १७६० के बाद जितने प्रतिष्ठित सरदार हुए, और जिन्होंने नवीन मुल्क जीता, सब प्रायः ब्राह्मण ही थे। पूने के दरबार में प्रभु लोगों का भी महत्त्व नहीं रहा। हां, बड़ोदे और नागपुर में अवश्य ही प्रभु लोगों की बहुत कुछ चलती थी। इसी प्रकार शेणवी और गौड सारस्वत ब्राह्मणों का प्रभाव सेंधिया के प्रदेश में बढ़ रहा था। इससे अवश्य ही इन्दौर, बड़ौदा, ग्वालियर और नागपुर में ब्राह्मणों का तेज नष्ट हो गया था। परन्तु जब हम महाराष्ट्र की ओर दृष्टि डालते हैं, तब वहां

हमें ब्राह्मणों की ही उन्नति, पेशवाओं के राज्य में, मि
दिखाई देती है। चिन्तूरकर, राजबहादुर, भुसकुटे, कु
खेर, कानडे, पानशे, जिनीवाले, पटवर्धन, मेहेंदले, गो
बेहेरे, लागू, रास्ते, फडके, पेठे, इत्यादि के अतिरिक्त
अनेक छोटे-बड़े ब्राह्मण सरदारों के नाम हमारे कथन के
र्थनार्थ दिये जा सकते हैं। इन ब्राह्मण लोगों की आगे च
यह दशा हुई कि, इनमें से देशस्थ ब्राह्मणों ने तो राघोब
का पक्ष लिया, और कोंकणस्थ ब्राह्मण नाना फडन
इत्यादि पूने वालों के पक्ष में रहे। सखाराम बापू, चिं
और हिंगणे राघोबादादा के पक्ष में मिल गये, और अ
अन्य ब्राह्मण लोग उनके विरुद्ध हो गये। आगे चल क
राघोबादादा के पुत्र दूसरे बाजीराव पेशवा पद पर आ
तब नाना फडनवीस और उनके अनुयायियों से उन
पटी। यही नहीं, बल्कि पटवर्धन, रास्ते और नाना फड
को भी बाजीराव साहब अच्छी निगाह से न देखने लगे
समय के सरदार लोगों के मन में जो यह जातिभेद फ
फिर उसमें भी जाति जाति के उपभेदों का जो भा
हो गया, यही उस अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की
ध्यान में रखने योग्य बात है। सरदार लोगों में दलब
गई थी, और फिर उस दलबन्दी में भी लोग आपस में
डने लगे थे, इस कारण शिवाजी, राजाराम और श
समय में जिस प्रकार सब जाति के और सब श्रेणी के
ने एकत्र मिलकर अनेक महत्कार्य सम्पादन किये थे
प्रकार अब सब लोगों में परस्पर सहानुभूति और का
क्ता उत्पन्न होना बिलकुल असम्भव हो गया था।

आश्चर्य की बात है कि उस शताब्दी के पूर्वार्ध में उस जाति-मत्सर और उपजातिमत्सर का नाम-निशान भी न था। पर, उत्तरार्ध में दूसरी ही दशा उपस्थित हो गई। जातिमत्सर की इतनी तरक्की हो गई कि फिर से एकता का होना बिलकुल असम्भव ही हो गया, और राष्ट्रहित के बदले अपनी ही तूंबी भरने की ओर प्रत्येक प्रबल सरदार प्रयत्न करने लगा। इस समय ब्राह्मण लोगों का तो दिमाग ही आसमान पर चढ़ा हुआ था। वे समझते थे कि बस, सच्चे राज्यकर्ता तो हमीं हैं, हमको अन्य जातिवालों की अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधायें होनी चाहिए। शिवाजी की राज्यरचना में इन मूढ़ भावनाओं का लवलेश भी न था। परन्तु अब पेशवाओं को देखिये। पेशवाई में सम्पूर्ण दफ्तर के जमाखर्च इत्यादि का काम कोकणस्थ ब्राह्मण के ही हाथ में था। इस विभाग में अन्य किसी की नियुक्ति ही न होती थी। उक्त ब्राह्मण कर्मचारियों को वेतन भी बहुत भारी दिया जाता था। तिस पर भी वे लोग बाहर से यदि अनाज अथवा अन्य कोई माल मँगाते, तो उनसे उस माल पर किसी प्रकार का कर भी नहीं लिया जाता था। कल्याण प्रान्त और मावल प्रान्त में जो ब्राह्मण जमीदार थे, उनसे जमीन की मालगुजारी भी अन्य जाति के जमीदारों से आधा, अथवा इससे भी कम, ली जाती थी। फौजदारी कचहरी में तो ब्राह्मण को कानून की सब से अन्त की सजा, अर्थात् देहान्त-दण्ड देने की कभी चाल ही न थी। बल्कि इसके विरुद्ध ब्राह्मण अभियुक्त ऐसे दण्ड के विरुद्ध अपील भी कर सकता था। किलों में यदि वे कभी कैद भी किये जाते थे, तो अन्य जाति के कैदियों की अपेक्षा उनके साथ विशेष

उदारता का बर्ताव किया जाता था। इन रियायतों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को धर्मादाय में सरकार उदारतापूर्वक दान भी खूब देती थी, क्योंकि यह जाति बहुत पवित्र मानी गई है। इस प्रकार की अनावश्यक रियायतों के कारण जो बुरे परिणाम घटित हुए, उनका परिचय पिछले बाजीराव के समय के रोजनामचों से भलीभांति मिलता है। 'दक्षिणा' दान का विचार वास्तव में विद्यावृद्धि के लिए रखा गया था, पर आगे चल कर तो यह दक्षिणाफंड सब ब्राह्मण भिक्षुकों के धर्मादाय के लिए ही हो गया, और फलतः बहुत जल्द पूना शहर में निरुद्योगी भिक्षुक लोगों के झुंड के झुंड जगह जगह दिखाई पड़ने लगे। बड़े बड़े उत्सवों में तो बहुत दिनों तक तीस से चालीस हजार तक ब्राह्मणों को पक्व-पक्वान्नी भोजन कराया जाता था। और यह सब खर्च पेशवा सरकार का ही था। ब्राह्मण जाति की बड़ाई की ऊपर जो भिन्न भिन्न बातें बतलाई गईं, वे उस शताब्दी के अन्तिम समय में तो बहुत ही अधिक बढ़ गई थीं। इस कारण राष्ट्र को जो अवनतावस्था प्राप्त हुई, उसकी वास्तविक कल्पना बहुत ही कम लोगों को हो सकती है। पहले जो लोगों का खयाल था कि सरकार सब जातियों का बराबर ही पालन करने वाली है, और सब को समान ही न्याय देने वाली है, सो यह खयाल उस समय लोगों का दूर हो गया। महाराष्ट्र साम्राज्य की, श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की प्रज्वलित की हुई उच्च भावना लुप्त हो गई, और अब पेशवा सरकार अपना मुख्य कर्तव्य गो-ब्राह्मणों का प्रतिपालन करना ही समझने लगे। इस प्रकार उच्च और श्रेष्ठ गुणों का ह्रास हो गया। ऐसी दशा में उसके स्वाभाविक परिणाम भी

यदि महाराष्ट्र को भोगने पड़े, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

फौज।

फौज के विषय में भी शिवाजी की प्रणाली और पेशवाओं की प्रणाली में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। मराठा फौज को यदि महाराष्ट्र का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब कहा जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। पूने के आसपास के और कोकन प्रान्त के किले शिवाजी ने मावलों और हटकरी लोगों की सहायता से ही अधिकृत किये थे। उस समय की शिवाजी महाराज की फौज सिर्फ 'पैदल' ही थी। उनके हथियार तलवारों और तोड़ेदार बन्दूकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। आगे चलकर जब वे शत्रुओं का सामना करने लगे, तब शत्रुओं पर हमला करने का मराठों का साधन घुड़सवार सेना हुई, पर पहले के मावलों और हटकरियों को उन्होंने नौकरी से अलग नहीं किया किन्तु उनको पहाड़ी किलों के बन्दोबस्त पर रख दिया। शिवाजी के घुड़सवारों ने औरंगजेब की मुगल सेना का मुकाबला करके सारे भारतवर्ष में मराठों के नाम का आतङ्क उत्पन्न कर दिया। ये घुड़सवार केवल भाड़े के टट्टू ही थे—ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। चाहे जाड़े के दिन हों, चाहे गर्मी के दिन हों, वे अकेले ही, अथवा अपने अपने घोड़ा और आदमियों के साथ, फौज में आकर भरती होते थे, और बरसात के लगते ही अपने अपने घर जाकर अपने पूर्वजों की जमीन जोतते बोते थे। बड़े बड़े खानदानी लोगों का भी शिलेदार और बारगीर बनने में अपना गौरव जान पड़ता था। और उनके अधिकार में जितने ही अधिक सिपाही अथवा जितने ही अधिक दल होते थे, उतना ही

उनको विशेष अभिमान मालूम होता था। सैन्य की भरती में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी। जहां लड़ाई का बिगुल बजा कि तुरन्त ही 'नालबन्दी,' अर्थात् घोड़े और घुड़सवार के खाने-पीने तथा अन्य सामान के लिए अग्रिम द्रव्य दिया जाता था। प्रत्येक सवार का नायक अलग रहता था। वह जिधर लेजाता, उधर ही सवार जाने को तैयार रहता था। इस प्रकार सन् १७५० ई० तक मराठा घुड़सवार मराठा फौज की एक मुख्य शक्ति माना जाता था। परन्तु जब अंगरेजों और फ्रेंचों की सेना के साथ युद्ध करने का अनुभव हुआ, तब यह मालूम हुआ कि नियमित शिक्षा देकर तैयार की हुई पैदल सेना और उसके साथ अर्वाचीन युद्धपति का तीसरा अस्त्र तोपखाना ही विशेष उपयोगी है। मराठों ने जब देखा कि अंगरेजों और फ्रेंचों को इस शिक्षित सेना के कारण ही विजय मिली, तब उन्होंने भी उसी पद्धति का अनुकरण करना उचित समझा, और गार्दी लोगों की पलटनें खड़ी की गईं। परन्तु मराठा सैन्य की इस नवीन तैयारी में एक दोष था। वह यही कि पहले के मावलों और शिलेदारों के पास कुछ जमीन रहती थी, और सरकार की नौकरी वे सिर्फ भाड़े के टट्टू ही बनकर नहीं करते थे; किन्तु स्थायी-रूप से उनका उपयोग होता था। अर्थात् जब कभी आवश्यकता पड़ती थी, तभी ये लोग अपने अपने धंधे से फुरसत पाकर लड़ने को तैयार रहते थे। परन्तु गार्दी लोगों का यह हाल न था। वे तो केवल वेतनभोगी नौकर होते थे, अनेक जाति के परकीय सिपाहियों की उनमें भरती होती थी, और बारह महीने उनको निश्चित वेतन देना पड़ता था। इनके

अतिरिक्त जो सेनापति उनको वेतन बाटता, उसी की आज्ञा में रहना वे जानते थे, राष्ट्रीयता किस चिड़िये का नाम है—सो उन्हें स्वप्न में भी मालूम नहीं था। सदाशिवराव भाऊ ने पहले पहल जो गार्दी पलटन तैयार की थी, उसमें उस पलटन के निकाले हुए लोग थे, जो प्रसिद्ध इब्राहीम गार्दी के अधिकार में फ्रेंच लोगों ने तैयार करवाई थी। उस इब्राहीम-खां पर भाऊ साहब का विश्वास भी खूब था। पानीपत की लड़ाई के समय मराठे सरदारों ने भाऊ साहब को यह सलाह दी कि शत्रु के सामने ही अपनी छावनी डालकर अफगान लोगों के साथ आमने सामने से मुठभेड़ करना बड़ा खतरनाक बात होगी। अतएव श्रीमान् को ऐसा साहस न करना चाहिये। परन्तु भाऊ साहब को यह सलाह पसन्द नहीं आई, किन्तु उन्होंने इब्राहीम गार्दी की सम्मति का ही आदर किया, परन्तु उस अनावश्यक विश्वास के कारण उस लड़ाई में मराठों की कैसी दुर्दशा हुई, सो इतिहास के पढ़नेवालों से छिपी नहीं है। परन्तु फिर भी मराठों ने उससे कुछ उपदेश ग्रहण नहीं किया। आगे चलकर दस वर्ष के भीतर ही यूरोपियन पद्धति से तैयार की हुई अनेक पलटनें दिखाई पड़ने लगीं। गार्दी पलटन में अरब, सिद्दी, अबिसीनियन, मिस्र, इत्यादि बाहरी लोगों की खूब भरती होगई। इन लोगों को वेतन शिलेदार घुड़सवारों के समान ही मिलता था। इन्हीं गार्दी लोगों के द्वारा जब नारायणराव पेशवा का खून हुआ, तब कहीं मराठों को इस बात का अनुभव हुआ कि ये लोग सिर्फ भाड़े के टट्टू हैं। इसके बाद कुछ समय के लिए इन लोगों की भरती बन्द होगई। परन्तु इस शिक्षित पलटन से लाभ भी

नहीं रहा था, बल्कि बहुत सा द्रव्य उन्होंने निजी तौर-पर भी एकत्र कर लिया था।

आमदनी की व्यवस्था।

बालाजी बाजीराव, माधवराव और नाना फड़नवीस के समय वसूली की व्यवस्था बहुत उत्तम थी। आमदनी के नवीन नवीन साधन उत्पन्न करके पुराने साधनों में भी सुधार किया गया था। पेशवाओं के समय की लगान मालगुजारी की पद्धति से यह जान पड़ता है कि, उस समय प्रजा पर जुल्म न करते हुए सरकार के सब अधिकारों को बजाने में विशेष सावधानी रखी जाती थी। आवश्यकता के समय प्रजा को तीन से लेकर सात वर्ष तक की मुद्दतबन्दी पर जमीन जोतने-बोने को दी जाती थी, और उसका लगान क्रमशः बढ़ाया जाता था। किसानों के असमर्थ होने के कारण जो लगान शेष रह जाता था, उसको वसूल करने का कभी प्रयत्न न किया जाता था, किन्तु इसके विरुद्ध प्रजा की दशा की ओर, और सम्पूर्ण राष्ट्रोन्नति की ओर, ध्यान रख कर ऐसा लगान ठहरा लिया था कि, जो वास्तव में वसूल हो सकता था, और इस कारण आमदनी में घाटा भी रहता था। युद्ध और दुर्भिक्ष के मौकों पर यदि यह विश्वास हो जाता कि, लोगों की शिकायतें उचित हैं, तो उपर्युक्त निश्चित लगान में भी बहुत कुछ छूट मिल जाती थी। जहां जहां बँटाई अथवा खड़ी फसल लेने की पद्धति थी, वहां वहां बयाना और रैयत का अन्य खर्चा छोड़ कर, आधी अथवा एक-तृतीयांश फसल रैयत के लिए रख कर शेष सरकार स्वयं लेती थी। शिवाजी के शासनकाल में यह परिमाण तीन पंचमांश और दो-पंच-

माश था, अर्थात् तीन-पचमाश प्रजा के लिए रखकर दो-पचमाश सरकार लेती थी। दक्षिणी कोंकन में प्रति बीघे दस मन धान लेने की चाल थी। कितने ही परगनों में जब प्रजा ने यह शिकायत की कि उक्त लगान का परिमाण अधिक है, तब दस मन से घटा कर नौ और आठ मन तक कर दिया गया। जब नकद द्रव्य की आवश्यकता होती अथवा नकद द्रव्य देना रियाया के लिए सुभीते की बात होती, तब फसल देखकर, पैदावार के अनुसार, यथोचित लगान लिया जाता था। उत्तरी कोंकन में ब्राह्मणों से प्रायः बहुत कम परिमाण में लगान लिया जाता था। मीरा तालुके का जमाबन्दी करते समय, जमीन की उत्पादनशक्ति देख कर, प्रति बीघे तीन से पाँच रुपए तक लगान लगाया गया था, और जहाँ ईख की खेती होती थी, वहाँ पाँच रुपया बीघा लगान लगता था। नासिक परगने और पिपलगाव बसवन्त में नकद लेने की चाल थी। वहाँ काली जमीन पर प्रति बीघे दो रुपया, मामूली जमीन पर एक रुपया और फलफलहारी की जमीन पर पाँच छै रुपया प्रति बीघा लगान लिया जाता था। अन्तिम बाजीराव के समय में पूना जिले के खेड़ तालुके में प्रति बीघा तीन रुपया लगान लिया जाता था। सितारे जिले का कुछ भाग चूँकि उपजाऊ नहीं था, इस कारण जमीन की शक्ति देख कर प्रति बीघे पौन दो से छ मन तक लगान लिया जाता था। गुजरात में लगान की दर अधिक थी।

छूट।

यदि किसी साल फसल अच्छी न होती, तो छूट भी काफी परिमाण में दी जाती थी। पहले की भूमिकर-प्रणाली

में खड़ी फसल पर ही लगान लिया जाता था। अतएव दुर्भिक्ष के साल में आमदनी में बहुत घाटा रहता था। इसके अतिरिक्त बार बार छूट देने के लिए भी बहुत बड़ी बड़ी रकमें घाटे में डाली जाती थी।

'कमाविसी' पद्धति।

दूसरे बाजीराव के शासनकाल के आरम्भ में आमदनी की व्यवस्था कमाविसी पद्धति पर चल रही थी। अर्थात् कमाविसदार अथवा तहसीलदार, उसको अन्य अमला और आवश्यक सब खर्च सरकार से मिलता था, अर्थात् साधारणतया सब आमदनी में सौ दस फी सदी उक्त खर्च होता था। कारकुन लोगों की संख्या, उनका वेतन, तथा लश्कर, अर्थात् घुड़सवार और सिपाहियों का वेतन अनुमानपत्रक में निश्चित रहता था। अतएव प्रजा पर जुल्म करने की नौबत उस कमाविसदार या तहसीलदार को नहीं आने पाती थी। यदि वह जमाबन्दी भी करता, तो उसे सूबा अथवा सरसूबा नामक श्रेष्ठ अधिकारी की स्वीकारी लेनी पड़ती थी। इसके सिवाय ज़मींदार, पटेल, कुलकर्णी या पटवारी और प्रजा के लोग यदि उक्त अधिकारी के बर्ताव के विषय में किसी प्रकार की शिकायत करते थे, तो फिर उसे नौकरी से अलग कर देते थे, अथवा यथोचित दण्ड देते थे। इन कमाविसदारों की नियुक्ति सिर्फ एक वर्ष के लिए हुआ करती थी। परन्तु यदि उसका बर्ताव अच्छा दिखाई देता था, तो आगे के लिए भी उसी की नियुक्ति हो सकती थी।

इजारे या ठेके की पद्धति।

दूसरे बाजीराव के शासनकाल में कमाविसी पद्धति को

धता बताया गया, और उसकी जगह इजारे की पद्धति, अर्थात् ठेके से आमदनी वसूल करने की प्रणाली जारी हुई। इजारेदार अपना निज का खर्च सरकारी लगान और खुद पेशवा का कुछ निजी देना निकाल कर, फिर जो कुछ बच जाता, वह इजारे में लेता था। ये निजी रकमें सरकारी हिसाब में न रखते हुए पेशवा के निजी विभाग में जमा होती थीं। अन्तिम पेशवा का चलाई हुई इस अनुचित प्रणाली को यदि हम छोड़ दें, तो देशी राजाओं अथवा अँगरेजी राज्य की सब उत्तम व्यवस्थाओं के समान ही मराठा साम्राज्य की कमाविसी पद्धति भी बहुत उत्तम रीति से चलती रही। उपर्युक्त पद्धति के दोषों से प्रजा की अपेक्षा सरकार का ही विशेष नुकसान हुआ, क्योंकि भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा महाराष्ट्र में, उपजाऊपन को देखते हुए, प्रजा विशेष सुखी थी। इस बात को ग्रांट डफ साहब ने भी स्वीकार किया है।

वसूली की सुविधा के लिए विभाग।

महाराष्ट्र १२ सूबों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक सूबे में परगने अथवा वर्तमान तालुकों का समावेश था। सूबों के नाम —(१) खानदेश में बागलान सहित ३० परगने थे (२) नीमाड़ प्रांत, हंडिया ५ (३) पुना और अहमदनगर ७८ (४) संगमनेर १५ (५) गंगथड़ी नासिकप्रदेश मिलाकर २५ (६) गुजरात प्रांत २० (७) कर्नाटक (८) सितारा, वाई और कराड मिलाकर (९ और १०) सायर सूबे पूना और जुन्नर, कल्याण, और भिवंडी (११ और १२) दो जलसना-सूबे, विजयदुर्ग और वसई।

ग्राम-व्यवस्था।

ग्राम-व्यवस्था में सरकार बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करती थी। लगान वसूली के लिए पटेल और कुलकर्णी (पटवारी) जिम्मेदार थे, और उनके वेतन सरकार की ओर से नहीं, वरन् शहर ही बाहर मिला करते थे। एक वर्ष का लगान बकाया रहने पर साहूकार लोग किसानों से जमानत लेते थे। इसके अतिरिक्त किसानों पर भी जिम्मेदारी रहती थी। साराश, देश में गावों के लोग सुखी थे।

वेतन और भाव।

नौकर-चाकर और सिपाहियों का वेतन ३ रुपया से लगाकर ७ रुपया तक होता था, और श्रेष्ठ कारीगरों को, आज-कल के बड़े बड़े नगरों को छोडकर, अन्य स्थानों की तरह, छै आने से लगाकर दस आने तक रोजाना मिलता था। मुहर्रिरों का वेतन प्राय ७ रु० से १० रु० मासिक तक होता था। अनाज के भाव में वर्तमान काल की अपेक्षा बडा चढाव-उतार होता था। परन्तु ज्वार, बाजरा आदि मोटे अनाज का भाव अन्न की अपेक्षा कई गुना सस्ता था। अब से कुछ वर्ष पहले वेतन की जो शरह था, उससे आधा उस समय दिया जाता था, परन्तु अनाज कई गुना सस्ता था। इसी से लोग धनसंपन्न थे। भीषण अकाल पडने का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। हा, छोटे मोटे, सो भी कहीं कहीं, अकाल सुनाई देते थे। शत्रु के प्रांतों पर चढाइयां करने के कारण मराठों को बहुत सा द्रव्य मिलता था। इसी से मराठाशाही में लाभदायक रोजगार धंधे बहुत से हुआ करते थे, इससे जमीन सम्बन्धी अथवा अन्य करों का लोगों को बोझा नहीं मालूम होता था।

हो, युद्धों के कारण उजड़े हुए सीमान प्रान्तों के लिए तो वे अजेय ही असह्य मालूम देते थे। अन्याय भी बहुत कम दिखाई पड़ता था, क्योंकि उसके टालने के साधन लोगों के ही हाथों में थे। अन्यायी या तो निकाल दिये जाते या कुछ काल के लिए उस प्रांत से निर्वासित कर दिये जाते थे।

तगाई।

बीज-चिनगारें वा बैल वगैरह खरीदने के लिये कई प्रकार की रियायत थी। और आग से घर जल जाने पर तथा कृषि की उन्नति के लिए भी पेशवाशाही में तगाई देने की प्रथा थी।

लोकोपयोगी कार्य।

पानी के बांध, चढ़ाव के मार्ग, नदी के तट पर घाट बनाना, तालाब खुदवाना, बस्ती में पानी की सुविधा, आदि कार्यों की ओर भी सरकार स्वयं ही ध्यान देती थी। किसानों को एक दो साल की मुद्दत पर अग्रिम रुपया दिया जाता था। परन्तु तहसीलदार बड़े दयालु होते थे, और उनकी दी हुई रकमें वसूल हो जाने तक वे निकाले नहीं जाते थे। अथवा उनके बाद के कर्मचारी को पहले की दी हुई रकम वसूल करके देनी पड़ती थी। आवश्यकता होने पर सरकार प्रायः तहसीलदारों से कुछ पेशगी रुपया लिया करती थी और जब तक वह अदा न हो जाता, तहसीलदार को १२) सैकड़ा ब्याज भी दिया जाता था।

बेगार।

पहले के पेशवाओं के समय बेगार की प्रथा प्रचलित थी, जिससे गरीब लोगों और कारीगरों-मजदूरों को बड़े कष्ट होते

थे। पहले माधवराव ने इस प्रथा को मिटाने का प्रयत्न भी किया और बेगार के बदले, दोनों पक्षों की सुविधा के लिये, नक़द रकम ली जाने लगी। अन्य स्वामियों की अपेक्षा सरकार ही अधिक दया दिखलाती थी। रोजनामचों में उक्त विषय से संबंध रखनेवाले भाग को, देखने से पाठकों को पेशवा के सुराज का अनुभव हो सकता है। गत ६० वर्षों में इस विषय में कोई सुधार नहीं किये गये, और इस प्रथा का स्वरूप जैसा का तैसा मौजूद है।

अन्य कर।

लगान वसूली के अतिरिक्त छोटे-बड़े और भी कई कर लिये जाते थे। मकानों का कर, दूकानों का कर, इत्यादि के अतिरिक्त कोंकन के रेवदंडा और अन्य बंदरों पर आयात तमाखू पर भी महसूल लिया जाता था।

नमक।

नमक के कारखाने नागोठना और वसई के पास भायंदर स्थान पर थे, और उनसे कुछ आय भी होती थी। नागोठने में प्रतिखंडी (२० मन) दो रुपये दस आना और भायंदर में एक रुपया छै आना कर वसूल किया जाता था। परन्तु आजकल अंग्रेजी सरकार उससे बीस गुने से लगाकर इक्तीस गुने तक अधिक कर वसूल करती है।

आबकारी।

वसई और कोंकन के किनारे पर के प्रदेश में, जो पहले पुर्तगालवालों के अधिकार में था, शराब के लिये जो ताड़ इत्यादि के वृक्ष रखे जाते थे, उन पर कर लगाया जाता था।

उस प्रदेश में भंडारी और अन्य जाति के लोग रहते थे। उन्होंने इस बात की शिकायत की थी कि, किसी न किसी प्रकार की शराब पिये बिना हम कोई रोजगार-धंधा नहीं कर सकते। इसी से उक्त प्रकार का कर वसूल किया जाता था। कोकन के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में आबकारी मुहकमे की आय बिलकुल ही अदा नहीं होती थी। केवल पूना के पास कुछ स्थानों से थोड़ा सा कर वसूल होता था। इसी प्रकार, घी, चरागाह, हुंडियां, भैंसों को पालने, कहीं कहीं पर मछलियां पकड़ने आदि के लिए कर वसूल किये जाते थे।

नौकाएँ।

प्रायः सरकार की ओर से ही नौकाएँ रखी जाती थीं, अतएव मुसाफिरों से भाड़ा नहीं लिया जाता था। परन्तु जहां अधिक मुसाफिर आते जाते थे, वहां पर ठीके से आमदनी वसूल की जाती थी। वास्तव में यह विचार कुछ क्षुद्र ठेकेदारों की महत्वाकांक्षा से उत्पन्न हुआ था। इससे कोई विशेष आय नहीं हुई। दूसरे बाजीराव के समय जब इजारे की प्रथा शुरू हुई, तब ठीके के बुरे परिणाम दिखाई देने लगे; और लोगों को अनेक कष्ट तथा अन्याय सहने पड़े। पहले की तहसीलदारी प्रथा में अन्याय की ओर प्रवृत्ति ही दिखाई नहीं देती थी; और यदि कहीं थी भी, तो उसका असर क्षणिक ही होता था। इसके अतिरिक्त सूबा और सरसूबा (वर्तमान काल के कमिश्नर) का तहसीलदारों पर बड़ा दबाव भी रहता था। कोकन, कर्नाटक, खानदेश, गुजरात और बागलान, इन पांच प्रांतों में पांच सरसूबे रहते थे। सच तो यह है कि, पेशवाओं का राज्य बहुत ही दयापूर्ण माना जाता था।

चुंगी।

पेशवाशाही में जलसेना-विभाग के हाथ में सिपुर्द किये हुए वसूली मामलों के अतिरिक्त समुद्रीय कर के लिये अलग विभाग नहीं था। परन्तु आयात और निर्गत माल पर जो चुंगी लगती थी, उससे बड़ी आय होती थी। कल्यान, भिवडी, पूना और जुन्नर के चुंगी विभाग अच्छी स्थिति में थे। नानाजी बाजीराव के समय कल्यान और भिवडी सूबे की आय ५५००० थी। यह आय बढ़ कर उस सदी के अंत में तीन लाख हो गई थी। खास पूना शहर का चुंगी विभाग ठीके पर था, और उससे आय भी पर्याप्त थी। शहर के आयात और निर्गत माल पर तथा कपड़ा, तमाकू आदि नगर-निवासियों की आवश्यकता की वस्तुओं पर काफी चुंगी वसूल होती थी। इसके अतिरिक्त अहमदाबाद में दिल्लीपतियों के बनाये हुए पूर्व-नियमानुसार ही चुंगी ली जाती थी। सारांश यह है कि चुंगी-विभाग की सुव्यवस्था से पूना का ब्राह्मण-प्रधान-मंडल तथा उनके प्रांत और परगनों के अधिकारियों की चतुरता और संगठन शक्ति भली भांति प्रकट होती है। इस प्रकार की आमदनी के साधन बढ़ा कर उनको व्यवस्थित कर देने की पेशवा की प्रणाली में किसी प्रकार का दोष नहीं दिखाई देता।

न्याय-विभाग।

जमीन का लगान, कर-विभाग और चुंगी की अपेक्षा यदि दीवानी और फौजदारी कायदा का ठीक अमल होता हो, तो कहा जा सकता है कि स्वराज्य में सरकार अपने कर्तव्य का अच्छी तरह से पालन करके यश प्राप्त करती है। वरन् यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं होगी कि, कायदों का योग्य पालन

करना ही स्वराज्य की कार्यक्षमता और यश-प्राप्ति की योग्य कसौटी है। पेशवा इस कसौटी पर पूरी तरह से उत्तम उँचे; अतः उनका अभिनन्दन करना आवश्यक है। पहले के राजमंडल के अन्य बड़े बड़े अधिकारियों के स्थान पेशवा ने पूर्ववत् क़ायम नहीं रक्खे; पर न्यायाधीश का स्थान तो उन्होंने पुनः श्री में क़ायम किया, और सभी दीवानी फ़ौजदारी मामलों का निपटारा करने के पूरे अधिकार उन्हीं को सौंपे—फिर चाहे वे मामले अपील के स्वरूप में हों, प्राथमिक हों या छोटे प्रान्तीय कर्मचारियों की ओर से मंजूरी के लिए ही क्यों न आये हों, परन्तु अन्तिम फ़ैसला करने का अधिकार उस न्यायाधीश को ही दिया गया था।

रामशास्त्री।

सन् १७६० ई० के लगभग न्यायाधीश का पद क़ायम किया गया। इस स्थान पर रामशास्त्री जैसे नरश्रेष्ठ का स्थापित किया जाना मराठों के अहोभाग्य की बात थी, जिस से पेशवा की कीर्ति चारों ओर फैली। रामशास्त्री के अनन्तर भी वह पद क़ायम रक्खा गया था, और उन्हीं की तरह विद्वान् धर्मशास्त्रज्ञ की आयोजना उस स्थान पर की जाती थी। दूसरे बाजीराव पेशवा के समय के अंतिम विद्वान् न्यायपति बालकृष्ण शास्त्री टोणपेकर थे। न्यायविभाग का यह हाल था कि प्रत्येक तहसीलदार को दीवानी और फ़ौजदारी के अधिकार सौंपे गये थे। किसी को पीटने की चेष्टा, चोरी या इसी प्रकार के अन्य छोटे बड़े अपराधों के जुर्माने से, तथा मुक़द्दमा लड़नेवालों से—चाहे वे जीतें या हारें—जमा किये हुए (कोर्ट फ़ीस, स्टाम्प आदि के) रक़मों की जो आय होती

थी, उसी में से तहसीलदार का वेतन निकल आता था। परन्तु उसे उसका हिसाब भी पेश करना पड़ता था। यदि निश्चित रकम की अपेक्षा अधिक आय होती तो वह सरकारी खजाने में जमा की जाती थी। पूना में स्थापित किये हुए मुख्य न्यायालय के अतिरिक्त तहसीलदार और सूबेदार की सहायता के लिये अन्य छोटे छोटे प्रांतीय न्यायालय भी खोले गये थे, जिनको आवश्यकतानुसार अधिकार दिये गये थे।

दीवानी मामले।

दीवानी और फौजदारी मामलों में विजेता पक्ष से वसूल की हुई रकम को 'हरकी' और प्रतिपक्षी की रकम को 'गुनहगारी' कहते थे। दीवानी मामलों में २५ रु० सैकड़ा फीस लगती थी, और किसी अपराध पर जुरमाने की रकम 'हरकी' से दूनी होती थी।

रुपयों के दावे।

कर्जदार से रुपया वसूल करने के लिये, इस समय की तरह, उस समय बहुत ही कम दावे होते थे। उस समय धनियों को अपनी रकम वसूली के विषय के बहुत कुछ अधिकार प्राप्त थे। हां, यदि कोई कर्जदार बलवान् होता, तो रुपया देनेवाले को सरकार से सहायता लेनी पड़ती थी। कर्जा चुक जाने पर २५ रु० सैकड़ा सरकारी सहायता के लिए काटकर बाकी रकम साहूकार को मिलती थी।

जायदादी दावे।

दीवानी के झगड़े मुख्यतः जायदाद, दत्तक, हिस्सा-बांट, हिस्सेदारी, सीमा, आदि विषयों के हुआ करते थे। इनके

फैसले उभय पक्षों के प्रमाणों पर अवलंबित रहते थे। गवाही देने वाले पहले सौगन्द खाते और गंगाजी का स्मरण करके गवाही देते थे। पहले दोनों पक्षों के इजहार लेकर फिर गवाहों के बयान लिये जाते थे। अनन्तर दोनों पक्षों को स्वय अपने गांव, या पड़ोसी गांवों के पंच पसंद करने की आज्ञा दी जाती थी और पंचों की राय के अनुसार ही तहसीलदार अमल कराते थे। कभी कभी यदि मामलों में गड़बड़ होता, और प्रमाण न मिलता, तो 'दिव्य' (अग्निपरीक्षा) किया जाता था, और उसके अनुसार फैसले होते थे। पेशवाओं के रोज-नामचों में ७६ दावों का उल्लेख है, जिनमें ६ दावों में 'दिव्य' किया गया था। इनमें से दो दावों में दोनों पक्षों ने अग्नि का दिव्य करने की परस्पर चुनौती दी थी। शेष झगड़ों में नदियों में नहाने पर ही सच्ची बातें मालूम हो गईं। वकील करने का झगड़ा भी नहीं था, क्योंकि मुख्य सरकार तक अपील करने का अवसर मिलता ही था। पंचों का फैसला सरकार को पसन्द न पड़ने पर नये पंच कायम करने का वादी प्रतिवादियों को हुक्म दिया जाता था, और उनसे दुबारा राय मांगी जाती थी। बड़े बड़े दीवानी मामलों में जो फैसले होते थे वे मुख्य सरकार के यहां भेजे जाते थे, और वहां से मंजूरी प्राप्त करने पर ही उनका अमल किया जाता था।

फौजदारी मामले।

फौजदारी मामलों में यह कहना आवश्यक है कि, छत्रपति राजाओं और पहले दो तीन पेशवाओं के समय में कानून के अनुसार केवल दान्य, कारागृह, जमीन-जायदाद की जब्ती, जुर्माना या कभी कभी देशनिकाले की सजा भी दी जाती थी।

फडनवीस के समय में तो डाकुओं को कैद करके फांसी देते थे। एक बार एक मामले में २० अपराधियों के सिर काटे गये, दूसरे में १३ अपराधियों के हाथ-पांव काटे गये और तीसरे में १८ अपराधियों में से किसी के हाथ, किसी के पांव और किसी के कान काटे गये। जान पड़ता है कि लोगों पर प्रभाव डालने के लिए ही ऐसी कड़ी सजाएं दी जाती थीं। अनन्तर डाके या डाकुओं से संबंध न रखने वाली बड़ी बड़ी चोरियों के लिए भी उक्त प्रकार की ही कड़ी सजाएँ दी जाने लगी थीं।

बड़ी चोरियाँ; व्यभिचार।

बड़ी चोरियां करने में जुर्माने या कारागृह की सजा दी जाती थी। व्यभिचार करनेवाली स्त्रियों को भी कठोर कारागार की सजा और पुरुषों को जुर्माने या कठोर कारागार की सजाएँ दी जाती थीं।

गुलाम।

कठिन कारावास पानेवाली स्त्रियों की कुलीनता प्रायः नष्ट होजाती थी। वे दासियां बनाई जाती थीं। उनकी सतान लावारिस समझी जाती थी, और वह माता के नाम से ही पहिचानी जाती थी। उन अपराधी स्त्रियों में व्यभिचार करके निर्वाह करनेवाली नीच जाति की स्त्रियां तथा दूसरे प्रांतों से बंजारों और लमाण जाति के लोगों के द्वारा भगाकर बिक्री के लिये लाई हुई लावारिसी लड़कियों की संख्या ही बहुतायत से होती थी।

इस प्रकार भर्ती किये हुए दास-दासियों की एक स्वतंत्र ही टोली हुआ करती थी। गूंगे जानवरों की तरह इन दास

पुरुष-स्त्रियों को रुपये देकर एक स्वामी दूसरे से मोल ले सकता था। वृद्ध हो जाने पर वे लोग सेवा से मुक्त कर दिये जाते थे। खानगी दास, धर्म के नाम पर, मुक्त हो जाते थे। परन्तु दासों के साथ भी दया का बर्ताव किया जाता था। पेशवाओं की कोठी में, अथवा खानगी तौर पर, काम करने वाली अन्य स्त्रियों के साथ तो और भी अधिक दया दिखलाई जाती थी।

देवताओं का चढ़ाना।

वर्तमान कानूनों में दोष न गिने जाने वाला पेशवा के समय में एक और अपराध माना जाता था, और उसके लिये बड़ी कड़ी सजा दी जाती थी। यह अपराध है देवी-देवताओं या भूत-प्रेतों का किसी दूसरे पर चढ़ाना। मुख्यतः कोंकन प्रांत में देवी देवता के चढ़ाने के अपराध फौजदारी में गिने जाते थे। अन्तिम दो पेशवाओं के समय तो देवी-देवता चढ़ा कर पड़ोसियों को कष्ट पहुँचाने वालों को दंड देने के लिये स्वतन्त्र कर्मचारी नियत थे। भूत-प्रेतों को नष्ट करना प्रांतीय अधिकारियों का एक कर्तव्य ही माना जाता था।

बुरा कर्मः—गोवध।

झूठी गवाही देना और झूठे कागजात तैयार करने के अपराध में जुरमाना और असमर्थ गरीबों को कारागृह की सजा दी जाती थी। गोवध के लिये भी कठिन सजा थी।

अन्य अपराध।

जाली सिक्के बनाना और कम तौल के बाट व्यवहार में लाना इत्यादि अपराधों के लिए जुर्माने और कैद की सजा नियत था। धोखे से अथवा कपट से भगाना, स्त्रियों का

पातिव्रत भ्रष्ट करना, चोरी करना, और धोखा देना जैसे अपराधों के लिये जुर्माना किया जाता था। फौजदारी मामलों की जाँच, अपराधियों को दण्ड, आदि का जो विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, उससे ज्ञात हो जावेगा कि, नाना फड़नवीस के समय के अतिरिक्त अन्य समय में कानून का अमल क्रूरतापूर्ण नहीं था वरन् दयापूर्ण और सौम्य था। जैसा न तो कभी पहले हुआ और न भविष्य ही में होगा। अपराध के अनुसार ही सजायें दी जाती थीं। वे अधिक कठोर नहीं होती थीं। नाना फड़नवीस के समय के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता। राजनैतिक शत्रुओं के साथ भी नाना बड़ी कठोरता का व्यवहार करते थे।

राजनैतिक अपराधी।

सखाराम बापू किसी समय पेशवाशाही के आधार स्तंभ थे। परन्तु जब वे राघोबादादा के पक्ष में होगये, तब वे किले में कैद किये गये। राघोबादादा के अन्य मित्र भी, जो सभी प्रभु जाति के थे, जैसे रघुनाथ हरि, बापूराव हरि आदि लोगों की भी वही दशा की गई। नाना के निकट सम्बन्धी मोरो बापूराव को भी किले में बंद किया था। दूसरे बाजीराव के समय नाना के साथ भी वही बर्ताव किया गया। पहले तीन पेशवाओं की अपेक्षा अंतिम पेशवा के समय में पारस्परिक झगड़े बहुत बढ़ गये थे। पेशवाओं के समय में राजनैतिक कैदियों के साथ दया का बर्ताव किया जाता था परन्तु राघोबादादा के मित्रों और अनुयायियों तथा बनावटी सदाशिवराव भाऊ के अनुयायियों के साथ, यद्यपि वे सभी ब्राह्मण और उच्च कर्मचारी थे, यह दया नहीं दिखलाई गई।

पुलिस।

पेशवाशाही में तहसीलदारों के पास पैदल और घुड़सवारों की जो फौज रहा करती थी, वही पुलिस का काम करती थी। अपने-अपने प्रांतों में शांति रखना उसी का काम था। छोटे गावों में पटेल, पटवारी तथा महार और मांग, इत्यादि नीच जाति के चौकीदार अपने गावों का प्रबंध करते, और बड़े बड़े गावों तथा शहरों में प्रत्येक मनुष्य को बारी बारी से थाने पर पहरा देना पड़ता था।

शहर-कोतवाल।

रक्षक सेना और छोटे छोटे गावों की पुलिस के अतिरिक्त अपराधों को ढूंढ निकालने और उनका फैसला करने के लिये कोतवाल कायम किये जाते थे। पूना, सितारा, पंढरपुर, नासिक, आदि बड़े बड़े नगरों में कोतवाल थे। घर के मालिकों से वसूल किये जानेवाले कर से ही भंगियों की तनख्वाह दी जाती थी। पूना, अहमदनगर, नासिक आदि जगहों में भंगी नौकर भी रखे जाते थे। पूना, अहमदनगर, जुन्नर और नासिक के कोतवालों को साधारण अपराधों की जांच के लिये, मजिस्ट्रेट के अधिकार भी थे। परन्तु जिलों में तहसीलदार ही मुकदमे करते थे।

टकसालें।

अन्य फुटकर विभागों के देखने से पता चलता है कि टकसालों को भी बड़ा महत्व प्राप्त था। रायल-एशियाटिक सोसाइटी के एक अधिवेशन में पढ़े हुए निबन्ध में मराठों के समय की टकसालों के विषय में बहुत कुछ विवरण किया जा चुका है।

डाक-विभाग।

पेशवा के समय में डाक-विभाग उन्नतावस्था पर नहीं था। जब उत्तरीय भारत अथवा कर्नाटक की ओर मराठी सेना जाती थी, तब खासकर डाक के ही लिये कुछ लोग नौकर रखे जाते थे। वे मुख्यत जासूस या हरकारे कहलाते थे। उन्हें थालनेर से दिल्ली पहुँचने के लिये १८ और महेश्वर से १२ दिन लगते थे। उन्हें रोजाना ३ रुपये मिलते थे। उसमें भी प्रवास के अनुसार न्यूनाधिक हो जाता था। जब पेशवाओं को कलकत्ते से पत्र व्यवहार करना पडता, तब वे हरकारों को बुरहानपुर भेजते, वहा से वे काशीजी जाते, और वहा से अँग्रेजी डाक-विभाग के कर्मचारियों के द्वारा कलकत्ते भिजवाते थे। कर्नाटक की लडाई के समय जब पूना से बदामी तक डाक ले जाने की आवश्यकता जान पडी, तब युद्धकाल में रोजाना डाक लाने और ले जाने के लिय ६० मनुष्य नियत किये गये थे। इस प्रकार के सामयिक प्रबन्ध के अतिरिक्त निजी अथवा सरकारी डाक ले जाने के लिये कोई खास प्रबन्ध नहीं किया गया था। सेठ साहूकार लोग अपनी हुंडिया दूरी पर भेजने के लिये अपने ही नौकर रखते थे। वे निश्चित समय पर जाते थे। दूरी के सम्बन्धियों और मित्रों को पत्र भेजनेवाले भी उन्हीं के हाथ अपने पत्र भेज देते थे।

औषधियाँ।

बीमारों को सेंतमेंत दवा देने के लिये प्रसिद्ध और कुशल वैद्य-हकीम रखे जाते थे। उन्हें उस कार्य के लिए गाँव इनाम दिये जाते थे। उन्हें और भी कुछ सहायता मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त कोई विशेष प्रबध नहीं था। फौज में भी

हकीम नियत किये जाते थे। वे शस्त्रक्रिया के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। नासिक में एक गुजराती वैद्य मुफ्त दवा देता था। उस धार्मिक कार्य के लिये उसे जागीर भी दी गई थी। दवाखाना जारी रखने के लिए उसके पुत्र के पास भी वह जागीर बनी रही थी। एक और वैद्य वनस्पतियों से रामबाण और उत्तम दवाइयां बनाता था। अतः उसे एक वनस्पति-वाटिका दी गई थी, और ओषधियां बनाने के लिये अन्य सहायता भी उसे दी जाती थी। सार्वजनिक दवाखाने जैसे महत्व के धार्मिक कार्यों के विषय में पेशवाओं ने जो कुछ व्यवस्था की थी, उसका और अधिक वृत्तान्त जानने के लिए अन्य कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं।

सैनिक नियुक्तियां।

युद्ध में हताहत होनेवाले सिपाहियों को बड़ी बड़ी इनामें देने में पेशवा बड़े उदार थे। मृतों के वारिसों को इनाम या उनके बाल-बच्चों के निर्वाह का पूरा पूरा प्रबंध कर दिया जाता था। प्रायः पिता की नौकरी पुत्र को भी मिलती थी। इस प्रकार की सैकड़ों बातें पेशवाओं के रोजनामचों से जानी जा सकती हैं। इस प्रकार की इनाम देते समय ब्राह्मण, मराठा अथवा हिन्दू और मुसलमान में बिलकुल भेद नहीं किया जाता था। घायलों और खेत रहनेवालों के साथ एक सा ही उदारता का बर्ताव किया जाता था।

धर्मादाय।

पेशवाओं ने धर्मादाय के लिए जो नियुक्तियां की थीं, उनमें भी उक्त प्रकार की ही उदारता देख पड़ती है। हां, यद्यपि ब्राह्मणों को उसका अधिकांश मिलता था, तथापि मुसलमानों

की दर्गाहों और, मसजिदों की व्यवस्था भी पूर्ववत् ही रखी थी। कोकन में क्रिश्चियनों के लिये भी नई व्यवस्थाएं कर दी थीं। धर्मादाय करने में जातिभेद अथवा धार्मिक पक्षपात बिलकुल नहीं था, यह पेशवाओं के लिये बड़े गौरव की बात है। मराठा-साम्राज्य में देवस्थानों और बँधे हुए वार्षिक दानों के लिए लाखों रुपया खर्च करने में पेशवा कर्ण जैसे दानशूर थे।

सम्मान-दर्शक पदवियाँ।

महाराजा शाहू के समय में लायक अफ़सरों को बड़े बड़े खिताबात दिये जाने का सिलसिला था। दिल्ली के बादशाहों की तरह हिन्दू सेनापतियों और सैनिक अफसरों पर लम्बी-चौड़ी उपाधियों की वर्षा होती थी। पेशवाओं के समय में भी यह सिलसिला जारी था, परन्तु आगे चलकर फिर उसमें बहुत कमी कर दी गई। परन्तु फिर भी यदि किसी को सम्मान देने की आवश्यकता जान पड़ती थी, तो पालकी में बैठने अथवा छत्र धारण करने का अधिकार दे दिया जाता था। और इसके खर्च के लिये सरकार की तरफ से ही कुछ वार्षिक द्रव्य नियत किया जाता था।

व्यापार को उत्तेजना।

पेशवाओं के रोजनामचों में इसके विषय में लिखा है कि, बुंदेलखंड में पन्ना की हीरे की खानों में से हीरे निकालने के लिये पेशवाओं ने कई सहूलियतें दी थीं, अतएव उनसे अच्छी आय होने लगी थी। अरब के व्यापारियों को कोकन बंदर में बसाने के लिये भी प्रयत्न किया गया था। वे केवल घोड़ों का ही व्यापार करते थे। चुंगी इत्यादि के कर उनके लिए माफ़ थे। इसी प्रकार माल लानेवाले यूरोपीय व्यापारियों को भी

रियायतें दी गई थीं। बड़े बड़े शहरों में बाहर के लोगों को घर बनाने या बाज़ार और मुहल्ले बसाने के लिए मुफ्त ज़मीन, कर की माफी, इत्यादि के समान सुविधाएँ दी जाती थीं। क्योंकि इससे शहर की आबादी और व्यापार बढ़ता था। पूना में रेशम और कलाबत्तू के कारखाने कायम होने का कारण यही था कि, वहां बुरहानपुर, पैठन आदि नगरों के कारीगरों को घर बनाने के लिए मुफ्त ज़मीन तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं दी गई थीं। बड़े बड़े शहरों में दूकानें खोलने के लिए पेशगी रुपया भी दिया जाता था।

पूना नगर की उन्नति।

पूना, पेशवाओं की राजधानी होने के कारण, अधिक प्रसिद्ध था। इसलिए बाहर से अनेक प्रकार के लोग वहां आकर बसे थे। सन् १७४८ के पहिले तो वह एक छोटा सा कसबा था, किन्तु उस साल के बाद ही वह १९ मुहल्लों और बाज़ारों का विशाल नगर बन गया। वे मुहल्ले और बाज़ार पेशवाओं के आश्रय से ही बसे थे; और बड़े बड़े सरदारों तथा स्वयं पेशवा के घराने के पुरुषों के नाम पर ही उनमें से अधिकांश का नामकरण हुआ था।

विद्या को उत्तेजना।

शास्त्री, पंडित और वेदज्ञों को दी जानेवाली दक्षिणा का हम उल्लेख कर ही चुके हैं। पहले उसे सेनापति खंडेराव दाभाड़े ने शुरू किया था। उनके अनन्तर, दाभाड़े की आय कम हो जाने से, दक्षिणा देने का कार्य पेशवाओं ने उठाया। बढ़ते बढ़ते नाना फड़नवीस के समय में तो वह रकम ६०००० तक पहुँच गई थी। अन्तिम बाजीराव भी धर्मादाय में बहुत

सा द्रव्य उड़ाते थे, और उसमें से कुछ रकम दक्षिणा में भी खर्च होती ही थी, जिससे उनके उड़ाऊपन से भी कुछ लाभ अवश्य ही होता था। बंगाल, उत्तरीय भारत, तथा दक्षिण के तैलंग, द्रविड, कर्नाटक आदि भारत के सब प्रान्तों से संस्कृतज्ञ पंडितों के झुंड के झुंड पूना में आते रहते थे, और उनकी विद्वत्ता के अनुसार द्रव्य इत्यादि से, उनका आदर-सत्कार किया जाता था। इसके सिवाय उनको प्रशंसापत्र भी दिये जाते थे। इन पत्रों का उन्हें बड़ा उपयोग होता था। अंतिम बाजीराव के समय में ४ लाख रुपये धर्मादाय में खर्च होते थे। सर्व साधारण ब्राह्मणों के लिए "रमणा भोजन," अर्थात् दान-दक्षिणा के साथ सत्कार किया जाता था, पर जो ब्राह्मण रमणे में जाने में हलकापन समझते थे, उन्हें महल में न्योता देकर, योग्यता के अनुसार, दुशाले, द्रव्य वा अन्य वस्तुओं से उनका सम्मान किया जाता था। विद्वानों के दान-दक्षिणा में लाख-सवालाख तक द्रव्य खर्च हो जाता था। शेष ३ लाख रमणे में खर्च होता था। इस प्रकार की उदारता के कारण पूना पांडित्य का केन्द्र गिना जाने लगा, और पेशवाशाही के नष्ट हो जाने पर भी मि० एलफ़िन्स्टन और उनके अनंतर के अंगरेजी अधिकारियों ने उसी दक्षिणा फंड में से पहले की पाठशाला जब तक कायम रखी, तब तक पूना की प्रसिद्धि पूर्ववत् ही बनी रही। परन्तु फिर समय के बदल जाने से दक्षिणाफंड का रुपया अन्य कार्यों में खर्च होने लगा, जिससे सभी जाति के विद्यार्थियों में संस्कृत-साहित्य और शास्त्रों की अभिरुचि उत्पन्न हुई। संस्कृत पंडितों के अतिरिक्त अन्य लोगों को उत्तेजना नहीं मिली,

पर पुराण कहने वाले कीर्तनियों का सम्मान वेदज्ञों और शास्त्रियों की ही तरह होने लगा। प्रसिद्ध मराठी कवियों के काव्यों का अच्छा विवेचन करके उनका अर्थ खोल कर समझाने का कौशल उक्त पैराणिकों और कीर्तनकारों में भली भांति पाया जाता था। बड़े बड़े सरदार भी मातृभाषा को आश्रय देते थे। प्रसिद्ध कवि मोरोपंत बारामती के जोशी नामक सरदार के आश्रय में थे। अन्य जाति के लोगों को पोवाड़े और लावनिया अच्छी लगती थीं, इससे शृङ्गारिक गद्य पद्य का प्रचार हुआ। दूसरे बाजीराव ने कुछ भाट और गोंधलियों (चारणों) को भी आश्रय दिया था। इस प्रकार अनेक कार्यों में सरकार से सहायता मिलती थी। इतिहासप्रेमियों को इस विवेचन से यह विषय अवश्य ही विचारणीय मालूम होगा, और वे प्राचीन सामग्री ढूंढ कर इस ज्ञान की वृद्धि अवश्य ही करेंगे।

विचित्र सामाजिक विचार।

पेशवाओं के रोजनामचों में अत्यंत मनोरंजक और उपयोगी बात यह है कि मराठा-सरकार ने सामाजिक विषयों में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया था। यह नहीं कहा जा सकता कि, जिन ब्राह्मण नेताओं पर राष्ट्र का कारोबार सौंपा गया था, उनका तत्कालीन प्रचलित बातों पर अविश्वास होगा। अपने शत्रु का नाश करने के लिए अनेक लोग भूत-प्रेत आदि अदृष्ट शक्तियों की सहायता लेने का प्रयत्न करते हैं। यह खयाल उस समय भी प्रचलित था। अतः उसके लिए कानून बनाये गये थे, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। शकुन, प्रश्न और भविष्यद्वाणी पर तो सभी जातियों का पूर्ण विश्वास था। एक बार एक विद्यार्थी ने अपनी जीभ काट

डाली थी, और एक गुजराती भक्त ने अपने इष्टदेव को अपना शिर अर्पण कर दिया था। जब वहा के अफसरों ने ये घटनाएँ सरकार पर प्रकट कीं, तब ऐसे अपवित्र बलिदानों से आने वाले संकटों को टालने और उन देवालयों को पवित्र करने के लिये बहुत सा द्रव्य व्यय किया गया। कल्यान प्रात में एक बार भूकप आया। उस समय लोगों को यह भय हुआ कि अब हमारा देश रसातल को चला जायगा। घाट पर के एक किले का कुछ हिस्सा टूट गया। इसका कारण नजर लगाना बतलाया गया। कुछ वर्षों के अनतर एक और किला रहने के लिये अयोग्य ठहराया गया, क्योंकि वहा पर एक प्रकार का रोग, जिसे कोई भी नही पहिचान सकते थे, फैल गया था, अत. भूतों के कोप का शमन करने के लिये चारों ओर पूजन-अर्चन, होम हवन आदि किये गये। एक जागीरदार ने सरकार से प्रार्थना की कि मेरे जागीर के गावों में भूतों का उपद्रव है, अत उसके बदले में दूसरा गाव दिया जावे। छोटे छोटे अवर्षणों के कारण प्रजा दुखित थी, अत देवालयों को हमेशा पानी में रखने अथवा ब्राह्मण और भिक्षुओं को देवालयों पर पानी की अभिषेक धारा छोड़ने के लिए बहुत सा द्रव्य खर्च किया जाता था। त्र्यबकेश्वर की एक देवी को भैंसा बलि दिया जाता था। कुछ दिनों तक तो वह प्रथा बन्द कर दी गई थी; पर ब्राह्मण पुजारियों के विशेष अनुरोध से वह फिर से शुरू की गई। नासिक के सप्तशृङ्गी पर्वत पर एक व्याघ्र मनुष्यों को मारता था। इसलिए वहा के तहसीलदार को हुक्म दिया गया कि, देवी का कौल या हुक्म होने पर उस क्रूर पशु को मारा जावे।

पंढरपुर की श्रीविट्ठल-मूर्ति पर एक बार एक छिपकली गिर पड़ी। अतएव उस दोष का प्रक्षालन करने के निमित्त शांति-कर्म कराने के लिये वहां के पुजारियों को हुक्म दिया गया। कसाइयों को गौएँ न बेचने का भी हुक्म था, और उसकी अवज्ञा करने पर कुछ मुसलमानों को सजाएँ भी दी गई थी। एक ब्राह्मण को, गाय की पूंछ काटने पर सजा हुई थी। इस विचार से कि, प्राचीन यज्ञ-यागादि और कई दिनों तक, अर्थात् सप्ताहों तक, किये गये कर्मों से राष्ट्र की उन्नति होती है, उक्त कर्म फिर से शुरू किये गये। बड़े बड़े यज्ञ होने लगे, जिनके लिए द्रव्य, धान्य आदि सामग्री सरकार से ही दी जाती थी। इसके लिये सरकारी खजाने से हजारों रुपये खर्च किये गये। पूना और उसके आसपास देवालयों की खूब वृद्धि हुई। सन् १८१०–११ ई० में लगभग २५० देवालयों का खर्च पेशवा की ओर से किये जाने का उल्लेख रोजनामचों में पाया जाता है। ये देवालय भिन्न भिन्न देवताओं के थे। निम्नलिखित अंकों से यह बात मालूम हो जायगी कि, किस देवता के अधिक पूजक थे। रामजी के देवालय १८ थे, और उनके सेवक हनुमान के ५२, विष्णु के ६, विट्ठल के ३४, और बालाजी के १२ थे। इस प्रकार राम और कृष्ण के अवतारों के कुल ७२ देवालय थे। ब्राह्मणों के पूज्यदेव महादेवजी के ४० और गणेशजी के २६ देवालय थे। देवालयों की संख्या से, शिव और विष्णु के भक्तों की संख्या बराबर ही जान पड़ती है। मूल देवताओं के ३२ और देवी के १० देवालय थे। मुसलमानों की दस दर्गाहें ऐसी थीं जिनको हिन्दू भी पूज्य मानते थे। दत्तात्रेय का केवल एकही देवालय था।

लोगों की श्रद्धा और, उनके विचारों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है, उसे अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि सारे भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही महाराष्ट्र की स्थिति थी। इसीलिये किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समूह को, उस समय की प्रचलित परिपाटी के अनुसार, बर्ताव रखने के कारण दोषी ठहराना ठीक नहीं है। पेशवा ने तो, उदार तत्वों का प्रचार करके, हिंदू-समाज के प्राचीन कठोर नियमों के बदले, सुविधा-जनक और सुधार-पूर्ण नियम प्रचलित किये थे, जिसके लिए उनका अभिनंदन करना आवश्यक है। उस समय चारों ओर युद्ध और चढ़ाइयों की गड़बड़ी मची थी, और शांति का नाम-निशान भी नहीं था। ऐसी दशा में बेबस होकर, अन्याय या किसी के धोखे में आकर अनेक लोग परंपरागत स्वधर्म से भी च्युत हो गये थे। परन्तु संतोष का विषय है कि उन पतित ब्राह्मणों या मराठों को, उनकी जातियों में पुनः सम्मिलित करने की केवल चेष्टा ही नहीं की गई, वरन् सभी जातियों के अनुमोदन, तथा पेशवा की आज्ञा से, वे फिर से पवित्र किये गये। पुनाजी बडकर नामक मराठा जबरन् मुसलमान बनाया गया था। एक वर्ष के बाद उसने दिल्ली जाने वाली, पहले पेशवा बालाजी की, सेना में भर्ती होकर महाराज शाहू से शुद्धि के लिए प्रार्थना की, और उसकी इच्छा पूर्ण की गई। एक कोकणस्थ ब्राह्मण को हैदरअली ने, राजनैतिक कैदी के नाते, कारागार में रखा था; और उसके विषय में आशंका की गई थी कि, आत्मरक्षा के लिए वह मुसलमान बन गया है। अन्त में सभी ब्राह्मणों और सरकार की सम्मति से वह शुद्ध

किया गया। एक ब्राह्मण धोखे से गुसाईं बनाया गया, और दूसरा रोगनष्ट होने की आशा से गुसाईं बना, परन्तु अन्त में पश्चात्ताप होने पर ब्राह्मणों और अधिकारियों की सम्मति से ये शुद्ध किये गये। इनमें से एक घटना अहमदनगर जिले के पुणतांबे ग्राम में हुई थी, और दूसरी निजामशाही के पैठन ग्राम में। शराब तैयार करने, और बेचने की भी मनाई थी। परन्तु पुर्तगालवालों से जीते हुए वसई, चोल आदि जिलो में भंडारी, मछवाहे आदि लोगों की अत्यावश्यकता के कारण उन्हें आज्ञा दे दी गई थी। उक्त जातियों के अतिरिक्त, अन्य ब्राह्मणादि जातियां यदि इस विषय की आज्ञा भंग करती थीं तो उन्हें सजा दी जाती थी। नासिक के ब्राह्मणों पर मद्यपान का दोषारोपण किया गया था। और सरकारी तहकीकात होने पर भी जब उन्होंने अपना अपराध स्वीकार न किया, तो वे किले में कैद किये गये। खेड तालुके के एक धनवान मराठा पटेल का शराबीपन छुडाने के लिए बहुत प्रयत्न किया गया; परन्तु जब वह किसी प्रकार न माना, तब अन्त में उसकी आधी इनामी जमीन जप्त कर ली गई।

कोंकन और वसई प्रदेश में कहीं कहीं लड़की बेचने की चाल थी। इसको बन्द करने के लिए कठोर आज्ञाएं दी गई थीं। दलाल और लड़की का पिता जितना द्रव्य लेता, उतना ही जुर्माना उनसे वसूल किया जाता था। इस प्रथा को नष्ट करने के लिए ९ वर्ष से अधिक उम्र वाली कन्या को अविवाहित न रखने का हुक्म था। साराश यह है कि हिंदूधर्मशास्त्र में भी सरकार हस्तक्षेप कर सकती थी। कई बार दबाव के कारण जब छोटी छोटी कन्याओं के विवाह होगये

तब शास्त्रानुसार सारे विधि नहीं हो पाये। अतएव पेशवा ने उन्हें यथाशास्त्र न मानकर दूसरे वर ढूँढने का हुक्म दिया। एक विवाह के बिलकुल निश्चित हो जाने पर जब वर के महाव्याधि से पीडित होने की बात मालूम हुई, तब सरकार ने उसके बदले दूसरा वर ढूँढने का हुक्म दिया। पानीपत के युद्ध में सदाशिवराव भाऊ लापता हो गये, अतः सर्व-सम्मति से उनकी पत्नी ने आजन्म सौभाग्य-चिन्हों का त्याग नहीं किया। इक्कीस वर्ष के बाद सन् १७८३ ई० में पति-पत्नी की एक साथ ही उत्तर-क्रिया की गई। एक कनौजिया बनावटी सदाशिवराव बनकर आया था, अतः उसे कारागार में रखा। परन्तु वहाँ से भागकर उसने कोकन में बलवा मचा दिया। अन्त में सन् १७७६ ई० में वह हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाया गया। नारायणराव पेशवा की स्त्री को भी केश-वपन न करने की आज्ञा दे दी गई थी, और परशुराम-पंत पटवर्धन की हतभागिनी कन्या का पुनर्विवाह करने के लिये भी सभी की आज्ञा प्राप्त कर ली गई थी। परन्तु अंत में अपने ही कुटुंबियों के इच्छानुसार उन्होंने वह विचार स्थगित कर दिया था।

भिन्न भिन्न जातियों के मामलों में पेशवा समान ही न्याय करते थे। उसके लिये ब्राह्मणों के ही हित पर विचार नहीं किया जाता था। पूना के सुनार और ब्राह्मणों में एक बार झगड़ा हुआ। सुनार स्वजाति के ही पुरोहित चाहते थे, और ब्राह्मण उसे अपना पैतृक अधिकार मानते थे। परन्तु अंत में सरकार ने सुनारों के ही अनुकूल फैसला किया। एक बार कुम्हार और बढ़ई लोगों में भी झगड़ा हुआ। कुम्हार अपने वर-वधू

की सवारी घोड़े पर निकालना चाहते थे, पर बढ़इयों के बाधा उपस्थित करने पर भी सरकार ने कुम्हारों के ही अनुकूल हुक्म दिया। कसेरों को जलूस निकालने का स्वत्व न होने की शिकायत लोगों ने शिकायत की। पर उनकी कुछ नहीं चला। नारायणराव पेशवा के समय में प्रभुओं को वेदाधिकार न होने की बात उठी, पर दूसरे बाजीराव के समय में उस मामले को फिर से उठाकर प्रभुओं के अनुकूल ही निपटारा किया गया। कोंकन के एक कलवार ने एक गुजराती कलाल को अपनी लड़की ब्याही, अत वह बहिष्कृत किया गया। परन्तु सरकार ने उसका बहिष्कार नहीं होने दिया। उपजातियों में परस्पर-विवाह करने का उदाहरण तो स्वयं पेशवा नानासाहब ने ही सन् १७६० ई० में, बर्वे नामक देशस्थ की कन्या से विवाह करके, उपस्थित किया था। हमने ऊपर जो कुछ लिखा है, उसका उद्देश यह नहीं है कि, पेशवा को इस विषय में कहाँ तक सफलता मिली। किन्तु उससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि, सामाजिक और धार्मिक बातों में भी शासक लोग हस्तक्षेप करते थे, और नवीन सुविधा के नियम बनाकर सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के दुष्परिणामों को टालने की चेष्टा करते थे। ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का अपना अधिकार उन्होंने एक हुक्मनामे में आरोपित भी किया है। यदि सूबा-अधिकारी किसी को बहिष्कृत करवाता, तो मुख्य सरकार की आज्ञा पाये बिना वह फिर से शुद्ध नहीं किया जा सकता था। समान अपराध होने पर भी अन्य लोगों की अपेक्षा ब्राह्मणों को कम दण्ड दिया जाता था, तथा प्रायश्चित्त और जुर्माने की युक्ति उनके लिये निकाली

थी। जातिभ्रष्टों का शुद्ध करना, उपजातियों में परस्पर-विवाह, कन्या-विक्रय की मनाई, मद्यपान का निषेध, कपट या दबाव से विवाह निश्चित होने, अथवा विवाह कर्म यथाविधि न होने, पर दूसरा विवाह करने, जाति-कृत्यों और उनके स्वेच्छाचारों पर अधिकार रखने तथा विभिन्न जातियों के साथ समान व्यवहार रखने, इत्यादि बातों से स्पष्ट है कि, देशी राजा सामाजिक सुधार के विषय में उदासीन नहीं थे। इस विवेचन से न्यायमूर्ति तैलंग-लिखित पूर्वोक्त निबंध के विचारों की भी पुष्टि होती है। उनका कथन है कि मराठा-साम्राज्य में, अर्थात् हिन्दुओं के राज्य में, वर्तमान लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक, मानसिक धैर्य और उदारता थी। सच है, केवल १०० वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों में प्रगति के प्रतिकूल जो प्रवृत्ति और मानसिक दुर्बलता थी, उसकी अपेक्षा यदि इस समय हम लोगों में अधिक दोष दिखलाई दें, तो यही कहना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा से हमें जो कुछ लाभ हुए, वे हमारे लिए कभी सन्तोषकारक नहीं। वे तो एक प्रकार से हमारे लिये बहुत ही महँगे ठहरे। अस्तु। पेशवाओं के रोजनामचों का यह संक्षिप्त विवेचन अब यहां समाप्त करना उचित होगा।

उत्तमोत्तम हिंदू राजाओं और मुसलमान बादशाहों की राज्यव्यवस्था से पेशवाओं की राज्यव्यवस्था किसी प्रकार कम न थी। हां, महात्मा शिवाजी अथवा अकबर की श्रेष्ठ राजनीतिज्ञता का पेशवाशाही में अभाव था, पेशवाई के नाशकारक बीज पेशवाशाही में ही पड़े थे। यह सच है कि महाराज शिवाजी की उदार राजनीति का जब पेशवा ने त्याग किया, और अंग्रेजों के समान बलवान शत्रु के साथ मुक़ाबला

करने का अवसर आया, तभी पेशवाशाही के नष्ट होने का रंगढंग देख पड़ा। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि पेशवा ने बड़ी चतुरता और योग्यता से राज्य किया। हां, पारस्परिक झगड़ों के कारण जब सार्वजनिक शांति के नष्ट होने का समय आया था, उसकी बात अलग है। जाति की बड़ाई और ब्राह्मणों के मिथ्या अभिमान की गुप्त बातें जब प्रकट होने लगीं, और उच्च सुधार-विषयक ज्ञान प्राप्त करने, नवीन कलाकौशल और शास्त्र सीखने, तथा उदार सामाजिक नीति और धार्मिक विचार ग्रहण करने की ओर जब लोगों ने प्रमाद दिखलाया, तभी, बाहरी शक्ति का प्रभाव होने के पहले ही, हमारा सारा काम बिगड़ चुका। बस, इतिहास जिज्ञासुओं को यही पाठ पढ़ाने के लिए यह निबन्ध लिखा गया है। सो हमारे सब ग्रन्थकर्ता और नीतिधर्म निपुण लोग यदि उपर्युक्त पाठ को ध्यान में रख कर इनसे कुछ लाभ उठा सकेंगे, तो आज के इस निबन्ध का परिश्रम सफल समझा जायगा।



तरुण-भारत-ग्रन्थावली।

भारतीय नवयुवकों में नवजीवन का सञ्चार करने के लिए इस ग्रन्थावली में इतिहास, जीवनचरित और सदाचार के ग्रन्थ निकलते हैं। जो महाशय, आठ आने प्रवेश फीस दाखिल करके, इसके स्थायी ग्राहक बन जाते हैं, उनको सब पुस्तकें पौन मूल्य पर मिलती रहती हैं। अभी तक निम्नलिखित ग्रन्थ निकल चुके हैं :—

(१) अपना सुधार	॥=)	(६) रोम का इतिहास	१)
(२) फ्रांस की राज्यक्रांति	१=)	(७) इटली की स्वाधीनता	॥)
(३) एब्राहम लिंकन	॥=)	(८) दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ	॥)
(४) महादेवगोविन्दरानाडे	॥।)	(९) सदाचार और नीति	१)
(५) ग्रीस का इतिहास	१=)	(१०) मराठों का उत्कर्ष	१॥)

व्यवस्थापक

तरुण-भारत ग्रन्थावली,

दारागंज, प्रयाग।